05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 49

अभिनव हैं अभिनव

दसवीं सदी के सौंदर्यशास्त्री का संसार

राधावल्लभ त्रिपाठी

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 50

दसवीं शताब्दी भारतीय चिंतन-परम्पराओं के परम उत्कर्ष का समय है। यह वह समय भी है, जब ये परम्पराएँ अपने नये प्रस्थान भी खोज रही हैं। नागार्जुन, दिङ्नाग, भर्तृहरि, वसुबंधु, कुमारिल, प्रभाकर, वराहमिहिर, मण्डन मिश्र, उम्बेक, शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र जैसे विचारक हो चुके हैं। इनके कर्तृत्व से भरी-पूरी एक सहस्राब्दी का अभिनवगुप्त जैसी प्रतिभा के लिए आधारभूमि बनना स्वाभाविक ही था।

अभिनवगुप्त एक मेधावी चिंतक, दार्शनिक, कवि और सौंदर्यशास्त्री थे। उनके जैसी प्रतिभा के निर्माण में अनेक समीकरणों, परम्पराओं व साधना-पद्धतियों का समायोजन हुआ। उनके आविर्भाव के समय प्रत्यभिज्ञादर्शन का चिंतन और तंत्र की साधना दोनों अपने शिखर पर थी, और अभिनवगुप्त को दोनों की विरासत पक्के गुरुओं से मिली। राफ़ेल तौरेला ठीक ही कहते हैं कि भारतीय दर्शन व धर्म के परिदृश्य में प्रत्यभिज्ञा सबसे मौलिक और विशिष्ट शाखाओं में एक है। यह भारत की बौद्धिक मनीषा का वह शिखर भी है जिसने तंत्र को गुह्य गुहाओं से बाहर निकाल कर वैचारिक स्फूर्ति दी। इसके कारण वह रहस्य के आवरणों से मुक्त हो कर सामान्य गृहस्थों के लिए सुलभ हो सका।[1]

कश्मीर में सातवीं शताब्दी के आस-पास अरब व्यापारियों व आक्रमणकारियों की घुसपैठ हो चुकी थी। उनके साथ इस्लाम भी प्रवेश कर चुका था, पर उसके प्रवेश की आहट अभिनवगुप्त में नहीं है। कदाचित् बहुत दूर से आती सूफ़ियों की वाणी की अनुगूँज प्रकारांतर से उनकी कविता में कहीं आ गयी है। अभिनवगुप्त के समय तक कश्मीर ने चिंतन, दर्शन व कला और संस्कृति की पराकाष्ठाएँ छू लीं थीं। उनके एक दो शताब्दियों के बाद इसी कश्मीर को भयंकर आक्रमणों और आघातों से एक बार फिर जर्जर होना था, और इसी को उस संस्कृति के सृजन की देश की सबसे बड़ी प्रयोगस्थली भी बनना था जिसमें ललद्यद, शैव दार्शनिकों व मुसलमान फ़क़ीरों में समान रूप में प्रतिष्ठित हुईं। अभिनवगुप्त भी एक शैव साधक के रूप में और एक पीर के रूप में हिंदू और मुसलमान समाज में पूजे गये।

अभिनव की कतिपय रचनाओं से उनके रचनाकाल का पता चलता है और उनके समय का काफ़ी सही अंदाज़ भी लग जाता है। उनकी कृतियों में *क्रमस्तोत्र* का रचनाकाल 990-91 है, *भैरवस्तोत्र* का 992-93, तथा *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी* का प्रणयन 1014-15 के आसपास हुआ। *तंत्रालोक* अभिनवगुप्त की प्रौढ़वयस् की कृति है। इन सब उल्लेखों के आधार पर अभिनवगुप्त का समय 950 से 1030 के बीच माना जाता है।

अपने बृहत्काय ग्रंथ *तंत्रालोक* में अभिनवगुप्त ने अपना परिचय देते हुए अपने पुरखों का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार उनके पूर्वज मध्यदेश में कान्यकुब्ज के निवासी थे। राजा यशोवर्मा के शासनकाल में कान्यकुब्ज में उनके पूर्वज अत्रिगुप्त रहते थे। अत्रिगुप्त की जन्म स्थली गंगा और यमुना के संगम पर अंतर्वेदी थी, और वे कन्नौज के राजा यशोवर्मा द्वारा सम्मानित पण्डित थे। उनकी ख्याति कान्यकुब्ज में ही नहीं कश्मीर तक रही होगी, क्योंकि जब कश्मीर के राजा ललितादत्य (725-761) ने यशोवर्मा को पराजित किया, तो वह संधि के विनिमय में अत्रिगुप्त को भी अपने साथ कश्मीर ले कर आया। उसने अत्रिगुप्त को मान-सम्मान दे कर प्रवरपुर (श्रीनगर) के पास वितस्ता (झेलम) के किनारे शिवमंदिर के सामने एक प्रशस्त भवन बनवा कर अचल सम्पत्ति दे कर बसाया। इन्हीं अत्रिगुप्त के वंश में वराहगुप्त हुए। वराहगुप्त के पुत्र थे नरसिंहगुप्त, जो अभिनवगुप्त के पिता थे। अपने पिता के घर का नाम अभिनवगुप्त ने 'चुखुल' या 'चुखुलक' तथा अपनी माता का नाम दुस्सला

---

[1] राफ़ेल तोरेला और बेटिना बॉमर (2016) (सं.) : 1.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 51

बताया है। *नाट्यशास्त्र* की अपनी टीका *अभिनवभारती* और *ध्वन्यालोक* की टीका *लोचन* में भी अभिनवगुप्त ने कमोबेश ये तथ्य दोहराए हैं, और साथ में यह भी बताया है कि उनके पिता नरसिंहगुप्त संगीत और राग में अपनी निपुणता के लिए प्रसिद्ध थे। संगीतशास्त्र का विशद अध्ययन, *अभिनवभारती* टीका से ज़ाहिर है, सम्भव है अभिनवगुप्त ने अपने पिता से किया हो।

अभिनवगुप्त की वंशपरम्परा महान् पण्डितों की थी। उनका परिवार वैदुष्य के कारण प्रतिष्ठित था। *काव्यशास्त्र* के क्षेत्र में इंदुराज या भट्टेंदुराज तथा विप्र तोत (भट्टतोत) इन दो गुरुओं का उल्लेख अभिनवगुप्त ने *अभिनवभारती* तथा *ध्वन्यालोकलोचन* में किया है। *तंत्रालोक* के आरम्भ में उन्होंने अपने को 'भट्टेंदुराजचरणाब्जकृताधिवास' कहा है। अपने चाचा वामन का वे एक कवि के रूप में उल्लेख करते हैं, जो *काव्यशास्त्र* के प्रसिद्ध आचार्य वामन से भिन्न हैं। अभिनवगुप्त ने अपने चचेरे भाइयों और शिष्यों, क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, चंद्रगुप्त और पद्मगुप्त का स्मरण किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने राजपरिवार से जुड़े अनेक उन यशस्वी लोगों के नाम भी अपने ग्रंथों में लिए हैं जिन्होंने उन्हें सम्मान दिया। उन्होंने अपने समय के लगभग पच्चीस श्रेष्ठ गुरुओं से अध्ययन किया। यहाँ तक कौलिक मत का अध्ययन करने के लिए वे कश्मीर के बाहर जालंधर गये। लोचन में उन्होंने अपने आप को ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के प्रणेता आचार्य उत्पल देव का प्रशिष्य या परमशिष्य बताया है। उत्पलदेव के शिष्य लक्ष्मणगुप्त थे, जिनसे अभिनवगुप्त ने शैवशास्त्र का अध्ययन किया। *अभिनव भारती* में उन्होंने गौरव के साथ अपने प्रवरपुर (आधुनिक श्रीनगर) तथा कश्मीर के वासी होने का उल्लेख किया है।

> अभिनवगुप्त के समय तक कश्मीर ने चिंतन, दर्शन व कला और संस्कृति की पराकाष्ठाएँ छू ली थीं। ... इसी कश्मीर को ... उस संस्कृति के सृजन की प्रयोगस्थली भी बनना था जिसमें ललद्यद, शैव दार्शनिकों व मुसलमान फ़क़ीरों में समान रूप में प्रतिष्ठित हुईं। अभिनवगुप्त भी एक शैव साधक के रूप में और एक पीर के रूप में हिंदू और मुसलमान समाज में पूजे गये।

विचारों की प्रखरता व गहनता तथा रहस्यदर्शी भावजगत् दोनों अभिनवगुप्त के कृतित्व में आश्चर्यजनक रूप से गलबहियाँ करते हुए चलते हैं। वे स्वयं चिंतन के शिखरों का स्पर्श अपनी अंतर्दृष्टि से करते हैं, पर अपने गुरुजनों का स्मरण श्रद्धातिरेक से और गद्गदभाव से करते हैं। यही नहीं वे अपने शिष्यों का भी अपनी रचनाओं में स्नेह के साथ स्मरण करते हैं।

अभिनव के छोटे भाई मनोरथ उनसे अध्ययन करते रहे, फिर उनके भांजे कर्ण ने उनसे शैवशास्त्र पढ़ा, जो उनकी बहन अम्बा के बेटे थे। कर्ण की असामयिक मृत्यु हो गयी। अभिनवगुप्त की माता तो उसी समय चल बसी थीं, जब वे बच्चे थे। शिवाराधिका अम्बा अपने आजन्म ब्रह्मचारी, फक्कड़ और अवधूत भाई के लिए माँ और संरक्षिका बनीं।

वत्सलिक और मंद्र जो कर्ण के भाई थे, अभिनवगुप्त की सेवा करते रहे। बाद में अभिनवगुप्त प्रवरपुर के बाहर मंद्र के घर में जा कर रहे, इस समय उनके चुनिंदा शिष्य निरंतर उनसे अध्ययन करते रहे।

परमार्थसार के व्याख्याकार योगराज अभिनवगुप्त के ही एक शिष्य क्षेमराज के शिष्य थे। उन्हीं शिष्य-परम्परा में एक अन्य शैव साधक मधुराज ने अभिनवगुप्त के शिष्यों की जो सूची दी है, उसमें क्षेमराज का नाम सबसे ऊपर है। अभिनवगुप्त ने अपने गुरुजनों का तो इतने आदर व भक्तिभाव से बार-बार स्मरण किया है, उतने ही वात्सल्यभाव से उन्होंने अपने कुछ प्रिय शिष्यों का भी नामोल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। पण्डित बलजिन्नाथ कहते हैं कि अभिनवगुप्त ने क्षेमराज का तो कहीं

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 52

नाम ही नहीं लिया, जिससे लगता है कि अभिनव क्षेमराज से चिढ़ गये थे, क्योंकि क्षेमराज को पाण्डित्य प्रदर्शन का बड़ा चस्का था, वे जो लिखते उसमें भी तत्त्व की बात को घुमा फिरा कर दुरूह बना कर प्रस्तुत करते, जब कि अभिनवगुप्त चाहते थे कि स्वयं भी ऐसा लिखें जो सुस्पष्ट हो, उनके शिष्य भी वैसा ही लिखें।[2]

क्षेमराज के *प्रत्यभिज्ञाहृदय* को पढ़ कर तो ऐसा नहीं लगता कि उन्हें वक्तव्य को जानबूझ कर बोझिल व कठिन बना कर कहने की आदत है। पण्डित बलजिन्नाथ का ध्यान इस तथ्य पर नहीं गया कि अभिनवगुप्त ने वलित्सलक, उत्पल, आदि के साथ एक शिष्य का क्षेम के नाम से उल्लेख किया है। क्षेम से उनका आशय क्षेमराज से ही होगा, जो अभिनवगुप्त के शिष्यों में निश्चय ही सबसे प्रतिभाशाली थे। पूरा नाम क्षेमराज न लिख कर केवल क्षेम लिखना अभिनवगुप्त का अपने पट्टशिष्य पर प्रेम भी दर्शाता है।

कश्मीरी पण्डितों में प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार अभिनवगुप्त ने *भैरवस्तव* का पाठ करते हुए अपने बारह सौ शिष्यों के साथ एक गुफ़ा में महासमाधि ले ली थी। यह गुफ़ा गुलमर्ग की पहाड़ियों पर बिरवा गाँव में बताई जाती है। कांतिचंद्र पाण्डेय ने इस अनुश्रुति के उल्लेख के साथ अभिनवगुप्त के इस महासमाधिस्थल की अपनी यात्रा का भी ज़िक्र किया है।

ये सारे तथ्य अभिनवगुप्त के अभिनवत्व को समझने की दृष्टि से अवधेय हैं।

कृतित्व

अभिनवगुप्त द्वारा विरचित लगभग 45 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अनेक विलुप्त हो चुके हैं। इन ग्रंथों को मुख्यत: तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है— *काव्यशास्त्र* या कलाचिंतन से संबद्ध ग्रंथ, शैवदर्शन तथा तंत्र से संबंधित ग्रंथ तथा स्तोत्र और विविध काव्य। *काव्यशास्त्र* या कलाचिंतन

---

[2] *परमार्थसार* पर बलजिन्नाथ पण्डित का उपोद्घात : 4.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 53

से संबद्ध ग्रंथों में उनकी दो कृतियाँ सुविदित हैं— भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* पर *अभिनवभारती* तथा आनन्दवर्धन के *ध्वन्यालोक* (जिसका वास्तविक नाम अभिनवगुप्त के अनुसार *सहृदयालोक* है) पर *लोचन* नामक टीका। *नाट्यशास्त्र* पर *अभिनवभारती टीका* उन्होंने *सहृदयालोकलोचन* के पश्चात् लिखी थी— यह भी अंतरसंदर्भों से विदित होता है, क्योंकि रस व भाव शब्द से वाच्य नहीं होते— यह बताने के लिए *नाट्यशास्त्र* के सातवें अध्याय पर *अभिनवभारती* में उन्होंने लोचन का उल्लेख किया है। ये दोनों व्याख्याएँ भारतीय *काव्यशास्त्र* में मौलिक चिंतन के प्रकर्ष के लिए जानी जाती हैं।

शैवदर्शन पर *तंत्रालोक, तंत्रसार, ईश्वप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* तथा *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी*— ये अभिनवगुप्त के प्रौढ़ ग्रंथ हैं । अपेक्षाकृत सामान्य जिज्ञासुओं के लिए उन्होंने सरल शैली में *बोधपञ्चाशिका, परमार्थचर्चा, अनुत्तराष्टिका* तथा *परमार्थसार* की रचना की। *तंत्रालोक* शैवदर्शन का विवेचन करने वाले शास्त्रों के बीच सर्वाधिक महिमामय और महाकाय कृति कही गयी है। इसी का सरल सार रूप *तंत्रसार* है। *गीता* पर *गीतार्थसंग्रह* नाम की उनकी व्याख्या है।

अभिनवगुप्त एक रहस्यदर्शी कवि भी थे। या तो उनकी चिंतनप्रधान कृतियों के घटाटोप में उनकी काव्यकृतियाँ उपेक्षित रह गयीं, या स्वयं अभिनवगुप्त ने उन्हें अपने अंतरंग संसार का हिस्सा मान कर अधिक उजागर नहीं किया। उनके परम गुरु उत्पलदेव भी बड़े मिस्टिक कवि थे, उन्होंने भी अपने स्तोत्रों को संकलित नहीं किया था। उनके शिष्यों ने उत्पल की स्तोत्रावली संकलित की।

स्वभाव और साधना

नीचे दिया गया श्लोक अभिनवगुप्त की दो कृतियों (*अभिनवभारती* तथा *ध्वन्यालोकलोचन*) दोनों की पुष्पिका (कोलोफ़ोन) में उनकी ओर से एक संदेश की तरह अंकित है—

सज्जनान् कविरसौ न याचते
ज़्लादनाय शशभृत् किमर्थित: ।।
नापि निन्दति खलान् मुहुर्मुहु-
र्धिक्कृतोऽपि न हि शीतलोऽनल: ।।5 ।।

(कवि हाथ नहीं फैलाता सज्जन के आगे
क्या चंद्रमा से कोई कहता है जा कर
कि वह आह्लाद बाँटे ?

कवि खलजन की निंदा भी
नहीं करता है बार बार
क्या आग कभी ठंडी हो सकती है
दो यदि जितना भी धिक्कार ?)

अभिनवगुप्त ऐसे समय में हुए जब सारे देश में शारदादेश या सरस्वती की भूमि के रूप में कश्मीर का डंका बजता था। पाण्डुलिपियों के समृद्ध भण्डारों तथा कवियों और विद्वानों की बड़ी जमात के कारण कश्मीर कवियों की तीर्थ भूमि बना हुआ था। इस वातावरण में अपनी महनीय कृतित्व के कारण अभिनवगुप्त ने जैसी प्रतिष्ठा व सम्मान पाया वह कम महापुरुषों को अपने जीवनकाल में मिलता है। वे अपने कवित्व, वैचारिक लेखन तथा साधना तीनों में शिवमय हो गये थे— इस रूप में उनके शिष्य उन्हें सम्मान देते थे। अपने जीवनकाल में वे साक्षात् भैरव के रूप में पूजे जाने लगे थे। *ध्वन्यालोकलोचन* के अंत में उन्होंने लिखा है—

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 54

वस्तुतश्शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते।
नाशिवं क्वचन कस्यचिद्वच: तेन वश्शिवमयी दशा भवेत्।।

(शिवमय यदि हो हृदय
तो शिवमय सब कुछ साफ़ साफ़ हो जाता है
किसी का कुछ भी कहा नहीं अशिव होता फिर
और हम सब की दशा हो जाती है शिवमयी।)

अभिनव अभिनव क्यों हैं?

गुप्त का गोत्रनाम अभिनव के विप्रपरिवार की परम्परा में चला आ रहा था। अभिनव नाम उन्हें किसने दिया, इसकी जानकारी मेरे पास नहीं है। सम्भव है उनके पिता ने यह नाम उन्हें दिया हो। क्या उनका यह अभिनव नाम यह सोच कर रखा गया कि वे जो कुछ करेंगे, वह सब अभिनव ही होगा? सरसरी तौर पर देखा जाए तो अभिनव के सारे काम में अभिनव कुछ भी नहीं दिखेगा। *काव्यशास्त्र* और *नाट्यशास्त्र* के क्षेत्र में वे सिर्फ़ दो टीकाएँ लिखते हैं। गीता पर उनकी जो टीका है, वह अपने नाम के अनुरूप संग्रहात्मक ही है। तंत्र पर उनके ग्रंथ हैं, पर 'मैं नयी बात कहने जा रहा हूँ' ऐसा दावा उनमें भी कहीं नहीं किया गया है। फिर भी यह सत्य है कि पिछले दो हज़ार वर्षों के हमारे इतिहास में अभिनव उन विरल मौलिक व्याख्याकारों व चिंतकों में हैं, जिनके अवदान से तंत्र, दर्शन व *काव्यशास्त्र* तथा कलाशास्त्र में सब कुछ अभिनव ही हो गया। अपने तंत्र और शैव दर्शन के क्षेत्र में क्षेमराज जैसे शिष्यों से लगा कर बींसवीं शताब्दी में लक्ष्मण जू, रामेश्वर झा, के.सी. पांडेय, बलजिन्नाथ, प्रभा देवी, नवजीवन रस्तोगी, बेटिना बाउमर, सेंडर्सन, राफ़ेल तोरेला, कमलेश दत्त त्रिपाठी, क्रिस्टोफ़र बिर्स्की और मार्क डिस्कोव्स्की तक की एक हज़ार साल की गुरु-शिष्य परम्परा के लिए अभिनवगुप्त एक बड़े पथप्रदर्शक बने रहे। *काव्यशास्त्र* और कलाशास्त्र में तो उनके शिष्य क्षेमेंद्र से लगा कर सत्रहवीं शताब्दी में पण्डितराज जगन्नाथ जैसे प्रखर चिंतक हों, या बींसवी शताब्दी में रेवाप्रसाद द्विवेदी जैसे उद्भट आचार्य, अभिनवगुप्त का खण्डनमण्डन कर के ही उनका चिंतनयान आगे बढ़ता या बढ़ पाता है।

अभिनवगुप्त ने त्रिकदर्शन को एक समन्वित रूप दिया, तथा काव्यचिंतन में उनका विनियोग करते हुए इन अवधारणाओं को नवप्रतिष्ठा दी : (1) रसस्वरूप (2) शांतरस की महारस के रूप में स्थापना, (3) स्थायी भावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, (4) साधारणीकरण की व्यापक व्याख्या, (5) हास्यरस की नवीन व्याख्या; तथा (ड़) स्वातंत्र्य के शैवसिद्धांत द्वारा कलासर्जनाप्रक्रिया तथा कवि के स्वातंत्र्य की स्थापना।

अभिनवगुप्त अभिनव क्यों हैं— इस प्रश्न का उत्तर कदाचित् अभिनव ने स्वयं अपनी व्याख्यापद्धति और विचारपद्धति का जो खुलासा किया है, उसमें मिल सकता है।

अभिनवगुप्त की व्याख्यापद्धति

अभिनवगुप्त शैवदर्शन, तंत्र व *काव्यशास्त्र* की परम्परा के व्याख्याकार हैं। व्याख्या और व्याख्याकार का आशय यहाँ आम धारणा से हट कर है। व्याख्याकार परम्परा को सतत प्रवाह के रूप में देखता है, वह स्वयं इस प्रवाह का एक हिस्सा भी होता है, तथा सातत्य और संवर्धन का दायित्व भी वहन करता है। इस अर्थ में वह व्याख्येय कृति से अलग नहीं रह जाता।

यह व्याख्यापद्धति अध्ययन और अनुसंधान की आधुनिक प्रविधि से भिन्न है। आधुनिक अध्येता जब किसी पहले की रचना का अध्ययन या व्याख्या करते हैं, तो उनके लिए वह कृति भूतपूर्व होती है, वे उससे अलग रह कर तटस्थ भाव से उसका विश्लेषण करते हैं। यह पद्धति शवपरीक्षण के

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 55

समतुल्य होती है। व्याख्या की अभिनवगुप्तसम्मत परम्परा में व्याख्येय कृति सम्प्रदाय (गुरु-शिष्य परम्परा) से प्राप्त है, व्याख्याकार उसे आत्मसात् कर उसका संवर्धन उसी तरह करता है जैसे कोई अपनी संतान को पालता और बड़ा करता है। इस तरह यह व्याख्यापद्धति ज्ञान को निरंतर तेजस्वी, जीवंत और अद्यतन बनाए रखती है।

अभिनवगुप्त की व्याख्यापद्धति में शैवशास्त्र की दार्शनिकभित्ति तथा तंत्र की उदार मानवीय दृष्टि दोनों का समागम हुआ। *गीता* के इस श्लोक की उनकी व्याख्या से इसे साररूप में हम समझ सकते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वेश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।
(कृष्ण कहते हैं : हे पार्थ, मेरी शरण में आ कर चाहे पाप की योनि से
जन्मे लोग हों, या स्त्रियाँ, वेश्याएँ या शूद्र ये सब परम गति या मुक्ति को पा जाते हैं।)

गीता पर शंकराचार्य का भाष्य भी है। शंकराचार्य की दृष्टि स्त्रियों और शूद्रों को ले कर वर्ण-व्यवस्था की रूढ़ियों से बँधी हुई है। वे पापयोनयः को स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः का विशेषण मानते हैं। इससे यह आशय हो जाता है कि स्त्री, वैश्य तथा शूद्र पाप से जन्म लेते हैं। संस्कृत भाषा की संश्लिष्ट शैली के कारण *गीता* के इस श्लोक का सहज रूप में पाप की योनि से जन्मी स्त्रियाँ, वेश्याएँ तथा शूद्र भी मुक्त हो जाते हैं— यह अर्थ करते हैं। पर अभिनवगुप्त अपने *गीतार्थसंग्रह* में 'पापयोनयः' को स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा इनके अलावा कोई पापयोनि जन भी हों, तो वे भी मुक्त जाते हैं। शंकराचार्य की वेदांती दृष्टि में स्त्रियाँ और शूद्र हेय हो सकते हैं, पर अभिनवगुप्त की शैवी और तांत्रिक दृष्टि में नहीं। अभिनव गुप्त वेदांती दृष्टि पर कटाक्ष भी यहाँ करते हैं— 'शूद्राः कात्स्नर्येन वैदिकक्ररयानधिकृतः परतंत्रवृत्तयश्च, तेपि मदाश्रिता मामेव यजन्ते। (शूद्रों को वैदिक क्रिया या यज्ञ आदि का अधिकार प्राप्त नहीं है, वे भी मेरी शरण में आकर मेरा ही यजन या पूजन करते हैं)। यहीं नहीं, अभिनवगुप्त उन रूढ़िवादियों की कठोर शब्दों में भर्त्सना ही कर डालते हैं, जो गीता की बाह्मणवादी व्याख्या करते हुए यहाँ यह आशय निकालते हैं कि वास्तव में मुक्ति तो ब्राह्मण या क्षत्रिय को ही मिलनी है, स्त्रियों, वैश्यों आदि के लिए आश्वासन दिया गया है, वास्तविक मुक्ति उनके लिए नहीं है। अभिनव कहते हैं—

> केचिदाचक्षते - द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यं, न तु स्त्र्यादिष्वपवर्गप्राप्तितात्पर्येण इति। ते हि भगवतः सर्वानुग्राहिकां शक्तिं मितविषयतया खण्डयतः तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वमसहमानाः, ...निरतिशययुक्तिप्रपञ्च साधिता- द्वैतभगवत्तत्त्वे भेदं बलादेवानयन्तो, अन्यांश्चागमविरोधेनाचेत-यमानाः परमन्तर्गभीकृतजात्यादिमहाग्रहा विष्टा-न्तःकरणाः मात्सर्यावहित्थलज्जाजिह्मीकृतावमुखदृष्टय इति हास्यरसविषयभावम् आत्मनि आरोपयन्ति इति।
>
> (कुछ लोग कहते हैं कि (गीता का) यह वाक्य द्विजों और राजन्यों (क्षत्रियों) के प्रति प्रशंसापरक है और इसका आशय यह नहीं है कि स्त्रियों आदि को भी सचमुच मुक्ति मिल ही जाएगी। ऐसे लोग भगवान की सर्वानुग्राहिका शक्ति को सीमित बनाकर उसे खण्डित करने की कुचेष्टा करते हैं, वे परमेश्वर की परमकृपालुता को सहन नहीं कर पाते, समस्त युक्तियों से सिद्ध होने वाले अद्वैत भगवत्-तत्त्व में वे बलात् भेद आरोपित करते हैं, आगम के विरोध से अन्यों को भी न समझते हुए जाति आदि को ले कर महान आग्रह से आविष्ट अंतःकरण वाले; ईर्ष्या, छल और लज्जा से कुटिल मुख और दृष्टि वाले ये लोग अपने आपको हास्यास्पद ही बनाते हैं।)

अभिनवगुप्त सुदीर्घ कालावधि में फैली चिंतनपरम्पराओं को समग्रता में देख कर समेकित रूप में व्याख्या करते हैं। इसलिए उनके दर्शन व तंत्र से संबंध ग्रंथ, टीकाग्रंथ व स्तोत्र तथा फुटकर काव्य आदि मिला कर भी परम्परा की व्याख्या का महावाक्य बनता है। रसविषयक उनका विमर्श समन्वित व समग्र दृष्टि से निर्मित है, जिसका आभास *अभिनवभारती* में रसतत्त्व के निरूपण की भूमिका में उन्होंने अपने इन उद्‌गारों में दिया है—

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 56

इसमें क्या अपूर्व ही क्या कि आम्नाय सिद्ध हो जाएँ
तो संविद्विकास में आगमद्वार खुलते ही जाएँ
पर यह जो समझ आ गयी उसके कारण को ले कर
लोग यहाँ झगड़ेगें नहीं क्या, दूषण दे दे कर?

ऊपर और ऊपर चढ़ चढ़ कर लम्बी चढ़ाई
थकी नहीं बुद्धि और सारतत्त्व जो देख पाई
उसके पीछे थीं पुरखों की परिकल्पनाएँ
विवेक के सोपानों की कितनी परम्पराएँ ।

मुझे लगता है कि ज्ञान की सिद्धि में पहली पहली झलक
ऐसा चित्र हुआ करती है जो बन जाता बिना फ़लक
फिर सही राह दिख जाती है, और सेतु बँधते जाते
अचरज नहीं कि तभी विचारों के
पुर हैं बसते जाते।।

अत: सज्जन के मत नहीं किये हैं दूषित
उनको तो बस कर दिया है केवल शोधित
जो भी पूर्वप्रतिष्ठित हैं चिंतन-धाराएँ
हमारी जड़ें उनमें ही केवल अँकुराएँ।।

इसी शैवी व तांत्रिक दृष्टि से भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* का एक सम्पूर्ण पाठ अपनी *अभिनवभारती टीका* में अभिनवगुप्त ने किया है। यहाँ टीका का प्रणयन एक ग्रंथ को खोलते हुए उसके द्वारा चिंतन की सोपानसरणियों पर ऊर्ध्वारोहण है।

अभिनवगुप्त ने *नाट्यशास्त्र* की इस व्याख्या में दस प्रकार की प्रविधियों को अपनाया। *अभिनवभारती* के आरम्भ में इन प्रविधियों का वे स्वयं इस प्रकार परिगणन करते हैं—

उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम्
स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहार: सुपूर्णता।
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशनिवेशनम्
सङ्गति: पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम्
सङ्ग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रित:।।

अर्थात् व्याख्या की जो पद्धति यहाँ अपनाई गयी हैं, उसके सोपान ये हैं— (1) उपादेय का सम्पाठ अर्थात् जिन विषयों का विवेचन करना है, उनका नामत: परिगणन, (2) प्रतीकन— जिन विषयों का विवेचन नहीं करना है, उन्हें छाँट कर अलग करना, (3) स्पष्ट व्याख्या, (4) विरोध का परिहार (5) विवेचन की पूर्णता, (6) लक्ष्य का अनुसरण, (7) श्लिष्ट वक्तव्य का सन्निवेश, (8) पुनरुक्तियों की संगति पर विचार (9) अनाकुल समाधान, तथा (10) संग्रह।

इन सोपानों पर चढ़ते हुए अभिनवगुप्त भरतमुनि के पूरे *नाट्यशास्त्र* को एक महावाक्य (मेटा डिस्कोर्स) के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तथा उसमें पूर्वापर संगति, सुश्लिष्ट संबंध और अन्विति के सूत्र निकालते हैं। इसके लिए वे गुरुपरम्परा से मिले शैवदर्शन के तत्त्वविचार का भरपूर उपयोग करते हैं।

शैव दर्शन में स्वीकृत छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं— (1) शिव, (2) शक्ति, (3) सदाशिव, (4) ईश्वर, (5) सद्विद्या, (6) माया, (7-11) माया के पाँच कंचुक या आवरण— कला, विद्या, राग, काल और नियति, (12) पुरुष, (13) प्रकृति, (14) बुद्धि, (15) अहंकार (16) मनस् या मन, (17-21) पाँच ज्ञानेंद्रियाँ श्रोत्र, त्वक्, चक्षुष्, रसना (जिह्वा) तथा घ्राण (नासिका), (22-26)

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 57

पाँच कर्मेंद्रियाँ वाक्, पाणि, चरण, पायु और उपस्थ, (27- 31) पाँच तन्मात्राएँ या ज्ञानेंद्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, (32-26) पाँच महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि यह विश्व षट्त्रिंशात्मक है या इन छत्तीस तत्त्वों से बना है। परमशिव अपनी संवित् की किरणों से इसे प्रकाशित करते हुए इसके ऊपर अवस्थित हैं। *नाट्यशास्त्र* में भी छत्तीस अध्याय हैं। नाट्य के संसार में भी हमारे संसार के ये छत्तीस तत्त्व निरूपित किये जाते हैं, और इस संसार में भी शिव ही प्रतिबिंबित हैं। *नाट्यशास्त्र* के छत्तीस अध्याय भी इन छत्तीस तत्त्वों के प्रतीक हैं, और शिव इन सब को आलोकित कर रहे हैं।[3] नाट्य के संसार की छत्तीस तत्त्वों से निर्मित संसार से तथा *नाट्यशास्त्र* के छत्तीस अध्यायों से भी समाकारिता बताने के लिए अभिनवगुप्त छत्तीसवें अध्याय को द्विधा विभक्त कर *नाट्यशास्त्र* में एक सैंतीसवाँ अध्याय सर्वप्रकाश परमशिव के प्रतीक रूप में विनिर्मित करते हैं। अपनी व्याख्या में भी वे शैवशास्त्र के छत्तीस तत्त्वों की संगति एक क्रमिकता के साथ *नाट्यशास्त्र* के छत्तीस अध्यायों में दिखाते हैं। वे स्थूलतत्त्व से आरम्भ करते हैं व सूक्ष्म सर्वव्यापी तत्त्व तक पहुँचते हैं। सबसे स्थूल तत्त्व पंच महाभूत हैं, और उनमें भी स्थूलतम पृथ्वी है। *नाट्यशास्त्र* के पहले अध्याय पर अपनी *अभिनवभारती* का आरम्भ अभिनवगुप्त धारण करने की शक्ति से संवलित धरणीरूप रूप ईश्वर की वंदना के साथ करते हैं, जो विश्वरूपी बीज के अंकुरण के लिए मूलाधार के रूप में स्थित हैं।[4] यह अध्याय नाट्य के मूलाधार का विमर्श भी है, और धरती पर नाट्य कैसे अवतरित हुआ इसकी कथा भी इसमें है। अभिनवगुप्त का *नाट्यशास्त्र* की एक अन्वितिमूलक व्याख्या रचने का उपक्रम इससे समझा जा सकता है। दूसरे अध्याय की टीका के पूर्व का प्रास्ताविक श्लोक जलमूर्ति शिव की वंदना से आरम्भ हुआ है।[5]

> 'मैं नयी बात कहने जा रहा हूँ' ऐसा दावा उनमें भी कहीं नहीं किया गया है। फिर भी ... हमारे इतिहास में अभिनव उन विरल मौलिक व्याख्याकारों व चिंतकों में हैं, जिनके अवदान से तंत्र, दर्शन व *काव्यशास्त्र* तथा कलाशास्त्र में सब कुछ अभिनव ही हो गया। ... अपने क्षेत्र में ... एक हज़ार साल की गुरु-शिष्य परम्परा के लिए अभिनवगुप्त एक बड़े पथप्रदर्शक बने रहे।

नाट्यशास्त्र की व्याख्या के संकल्प में अभिनवगुप्त की प्राक्कल्पनाएँ एकदम स्पष्ट हैं। वे *नाट्यशास्त्र* को ज्ञान की भारतीय परम्परा के अनादिप्रवाह की एक धारा के रूप में देखते हैं।[6] यह धारा अपने स्वत:सिद्ध प्रवाह में अबाधित रूप से प्रवाहमान तो है, ज्ञान की इतर धाराओं से समागम कर के भी वह अपने को संपुष्ट करती है। *नाट्यशास्त्र* की इस रूप में व्याख्या की पूरी तैयारी अभिनवगुप्त ने की है, जिसके दो आधार तो एकदम स्पष्ट हैं, एक ओर शैवागमों की परम्परा उनके सामने है जिससे

---

[3] षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्व-
न्वन्दे शिवं श्रुतितदर्थविवेकि धाम।।
(*नाट्यशास्त्र* अध्याय 1 पर *अभिनवभारती* दूसरा प्रास्ताविक श्लोक)

[4] विश्वबीजप्ररोहार्थ मूलाधारतया स्थितम्
धर्तृशक्तिमयं वन्दे धरणीरूपमीश्वरम् ।
(*नाट्यशास्त्र* अध्याय 1 पर *अभिनवभारती* तीसरा प्रास्ताविक श्लोक)

[5] संसारनाट्यजननधातृबीजलताजुषीम्
जलमूर्तिं शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे ।।1।।

[6] *नाट्यशास्त्र* 2.7 पर *अभिनवभारती* में वे कहते हैं - शास्त्रं कृतं तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम्।

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 58

प्रतिसंधान और अनुस्मरण के बल से ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञा है। यह सामान्य पहचान से भिन्न है। सामान्य पहचान का उदाहरण समझाने के लिए दिया जाता है। अपने इस विश्वबोध के द्वारा शैवदर्शन ने वेदांत आदि की सारी व्यावृतिमूलकता (एक्सक्लूसिवनेस) को अनुवृत्तिमूलकता (इन्क्लूसिवनेस) में रूपांतरित कर दिया। वेदांत के निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर यहाँ शक्तिसमन्वित शिव हैं, जिनमें कर्तृत्व है।

नाट्यशास्त्र कहीं न कहीं से संबद्ध है, दूसरी ओर भट्टतोत और भट्टेंदुराज जैसे दो गुरुओं से *नाट्यशास्त्र* तथा *काव्यशास्त्र* का अध्ययन करते समय गुरुपरम्परा में व्याख्यात *नाट्यशास्त्र* व *काव्यशास्त्र* उन्हें प्राप्त हैं।[7] दोनों गुरुओं को उन्होंने अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। इन उद्धरणों को देखते हुए लगता है कि इन दोनों को भी *नाट्यशास्त्र* तथा *काव्यशास्त्र* एक गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था। इस प्रकार अभिनवगुप्त का *नाट्यशास्त्र* की व्याख्या का अपना एक सम्प्रदाय है, जो उन्हें भट्टेंदुराज के माध्यम से अधिगत हुआ। *नाट्यशास्त्र* की व्याख्या के अन्य भी सम्प्रदाय उनके पहले से चले आ रहे थे। इनका अध्ययन अभिनवगुप्त ने खण्डन और मण्डन दोनों ही दृष्टि से ने किया।

दूसरे वे इस पूरे ग्रंथ को भरतमुनि द्वारा कहा हुआ मानते हैं। यह ग्रंथ भरतमुनि के द्वारा रचा हुआ नहीं है— यह पक्ष *नाट्यशास्त्र* के बारे में अभिनव के पहले कतिपय आचार्यों के द्वारा उठाया जाता रहा था। अभिनव उनकी मान्यता का दृढ़ता से खण्डन करते हैं। पूर्वपक्षियों का कहना यह है कि *नाट्यशास्त्र* में भरतमुनि का अन्य पुरुष में उल्लेख है, अत: यह ग्रंथ किसी और का लिखा हुआ है। इसका उत्तर देते हुए अभिनव कहते हैं यह प्राचीन ग्रंथों में स्वीकृत पद्धति है कि ग्रंथकार अपने को अन्य पुरुष मान कर अपना मत प्रकट करता है।[8] अभिनव इस मत को भी अग्राह्य मानते हैं कि जिन अंशों में भरतमुनि अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित है, उनको उनके किसी शिष्य ने रचा और शेष ग्रंथ भरतमुनि ने रचा। अभिनव का मंतव्य यह है कि परवचन और स्ववचन को पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने के लिए इस शास्त्र में जो व्याख्या शैली अपनाई गयी है उसके कारण भरतमुनि अपना नामोल्लेख स्वयं करते हैं। सदाशिव, ब्रह्म और भरत के मतों में ब्रह्ममत की साररूपता बताने के लिए यह ग्रंथ किसी ने लिखा है, यह मानना तो पूरे के पूरे ग्रंथ को ही प्रक्षिप्त मान लेना है, और ऐसा मत किसी नास्तिकधुर्योध्याय का ही हो सकता है।[9]

---

[7] सद्विप्रवदनोदितनाट्यवेदतत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छित सिद्धिहेतो:।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ: संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति।। (*अभिनवभारती,* भाग 1 : 1)

[8] भरतमुनि: परवदात्मानं प्रकल्प्य ग्रंथमभिहितवान्। (*अभिनवभारती,* भाग-2 : 8)

[9] *अभिनवभारती* भाग-1 : 6.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 59

इस प्रकार शैव दर्शन से अधिगत अपनी इस अद्वैतपरक दृष्टि के कारण अभिनवगुप्त *नाट्यशास्त्र* को भरतमुनिविरचित महावाक्यात्मक कृति (मेटा डिस्कोर्स) के रूप में विवेचित करते हैं; और महावाक्यता की संगति इसमें सिद्ध करने के लिए वे अपनी व्याख्या में प्रमाण आधार भी जुटाते हैं, जबकि आधुनिक विद्वानों में अनेक भरतमुनि के नाम से उपलब्ध ग्रंथ को किसी एक व्यक्ति की एक समय में रची गयी समग्र और एकान्वित कृति नहीं मानते। *नाट्यशास्त्र* के प्रथम सम्पादक रामकृष्ण कवि ने इस ग्रंथ के दो प्राचीन संस्करण होने की सम्भावना सबसे पहले व्यक्त की थी, एक उत्तरी संस्करण और एक दक्षिणात्य संस्करण। दक्षिणात्य संस्करण उनकी दृष्टि में अधिक प्राचीन है, और इसमें रसनिरूपण में आठ ही रस स्वीकृत रहे हैं। उत्तरी संस्करण में नवम रस–शांत–को भी रसप्रकरण में जोड़ा गया। उपलब्ध पाठ में *नाट्यशास्त्र* के पाँचवें, नवें, चौदहवें, पंद्रहवें, सोलहवें अध्यायों में दो अलग अलग समानांतर पाठ मिलते हैं, तथा पाठ परम्पराओं में अंतर भी है। अभिनवगुप्त की दृष्टि उपलब्ध पाठ का विखण्डन करके फिर उसमें अन्विति को स्थापित करती है। आधुनिक व्याख्याएँ उपलब्ध पाठ का विखण्डन करके उसमें बिखराव पाती है। *नाट्यशास्त्र* की विविध पाठ परम्पराओं का ज्ञान अभिनवगुप्त को भी था, पर वे *नाट्यशास्त्र* को न तो ऐसी कृति के रूप में विवेचित करते हैं, जिसमें बहुत बाद में भी प्रक्षेप जुड़ते रहे, न उसके एकाधिक संस्करणों या एक जाली कृति होने की सम्भावना को ही विचार्य मानते हैं। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त की व्याख्या पद्धति पारम्परिक व्याख्या के उपकरणों का पूरा उपयोग कर *नाट्यशास्त्र* के प्राप्त पाठ में से एक नया और पुनर्व्यवस्थित समन्वित *नाट्यशास्त्र* खड़ा कर देने की है, जिसके द्वारा वे रसस्वरूप, कलासर्जना की प्रक्रिया, इस प्रक्रिया में स्वातंत्र्य के सिद्धांत का विनियोजन, शांतरस, हास्य, साधारणीकरण या रसानुभव आदि की अवधारणाओं का आटीकन करके अपना समग्र चिंतनप्रस्थान निर्मित कर लेते हैं।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्रकाश, विमर्श, स्वातंत्र्य, स्पंद और प्रत्यभिज्ञा— ये अभिनवगुप्त के दर्शन में बीजशब्द हैं। प्रकाश और विमर्श— इन दो तत्त्वों से यह सृष्टि जन्म लेती है। प्रकाश शिव रूप है, विमर्श शक्ति रूप। शिव के बिना शक्ति नहीं, शक्ति के बिना शिव नहीं। प्रकाश सत्ताविषयक या ज्ञानविषयक स्वातंत्र्य है, विमर्श क्रियाविषयक स्वातंत्र्य है। चित् या चैतन्य अपने आप को अपनी ही शक्ति के द्वारा परिभाषित करता है, जानता बूझता है। यह जानना और बूझना विमर्श है। विमर्श में स्फुरत्ता या स्फुरणशीलता अथवा स्पंद रहता है। शिव और शक्ति की तरह प्रकाश और विमर्श भी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, प्रकाश के बिना विमर्श नहीं विमर्श के बिना प्रकाश नहीं। *पराप्रवेशिका* में कहा गया है— 'इह खलु परमेश्वरः प्रकाशस्वभावः। प्रकाश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशनेन, विश्वसंहरणेन अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्।'[10]

स्वात्मोच्छलता या भीतर का उच्छलन इस सृष्टि प्रक्रिया की पहचान है, और स्वातंत्र्य उसका स्वभाव। स्वात्मोच्छलता को स्पंद भी कहा गया है। स्पंद के द्वारा संकोच और विकास या उन्मीलन और निमीलन होता है।

द्वारकानाथ शास्त्री *परमार्थसार कारिका 14* पर अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि चित्शक्ति के ही रूप हैं आनंदशक्ति और इच्छाशक्ति। शक्ति का अंतर्मुख स्पंद आनंद है, बहिर्मुख स्पंद इच्छा। अंतर्मुख स्पंद में परमशिव विराजमान हैं, बहिर्मुख स्पंद में शक्ति (*परमार्थसार,* पृ. 30)

---

[10] *प्रत्यभिज्ञाहृदय,* जयदेवसिंह द्वारा उद्धृत : 109

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 60

जीव (पशु), शिव और शक्ति इन तीन मूल तत्त्वों के विमर्श के कारण इस दर्शन को त्रिक्दर्शन भी कहा गया। स्पंद की क्रिया पर बल देने के कारण स्पंददर्शन भी। प्रतिसंधान और अनुस्मरण के बल से ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञा है। यह सामान्य पहचान से भिन्न है। सामान्य पहचान का उदाहरण समझाने के लिए दिया जाता है।

अपने इस विश्वबोध के द्वारा शैवदर्शन ने वेदांत आदि की सारी व्यावृत्तिमूलकता (एक्सक्लूसिवनेस) को अनुवृत्तिमूलकता (इन्क्लूसिवनेस) में रूपांतरित कर दिया। वेदांत के निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर यहाँ शक्तिसमन्वित शिव हैं, जिनमें कर्तृत्व है। यह कर्तृत्व उनके पंचकृत्य में प्रतिफलित होता है : सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह।[11]

वेदांत, सांख्य आदि दर्शनों से शैव दर्शन यहाँ इस अर्थ में अलग और विशिष्ट हो जाता है कि शिव यहाँ वेदांत के ब्रह्म की तरह निर्गुण निराकार और अद्वैत रूप में सर्वथा अलग नहीं हैं। वे अपने आनंद के लिए जगत् को रचते हैं। शिव इस जगत् की सृष्टि कर के इसमें समाए हुए हैं। वे ही परम तत्त्व हैं, वे ही संसार हैं। *स्पन्दकारिका 32* में कहा गया है— भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित: यानी जो भोक्ता है वही भोग्य के रूप में भी सदा सर्वत्र स्थित है। शिव देह धारण कर के भोक्ता बन जाते हैं : भोक्ता च तत्र देही शिव एवं गृहीतपशुभाव: (*परमार्थसार-50*)।

यह जगत् शिवमय है, जिस तरह शिव विभाग शून्य अखण्ड हैं, उसी तरह परमार्थ रूप में यह भी विभागशून्य तथा अखण्ड है। पर जिस तरह दर्पण में हम प्रतिबिम्ब देखते हैं, तो उस प्रतिबिम्ब में अंग-प्रत्यंग अलग अलग झलकते हैं, वास्तव में दर्पण एक ओर अखण्ड है, प्रतिबिम्ब इस दर्पण से अलग कुछ नहीं है, पर वह अलग झलकता है। उसी तरह यह संसार शिव से अलग झलकता है। अभिनवगुप्त कहते हैं—

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।
भाँति विभागैनैव परस्परं दर्पणादपि च।।
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।। (*परमार्थसार*) 12,13), पृ. 26

शिव अपने को दर्पण बना कर संसार को अपने में भी प्रतिबिम्बित या आभासित कर देते हैं। यह निर्जीव और जड़ दर्पण नहीं है, यह ऐसा दर्पण है, जो अपना बिम्ब भी रचना है, प्रतिबिम्ब भी और रच कर फिर अपने में समेट भी लेता है। अपने आप को रच कर विस्तार देने इस खेल को मयूराण्डरसन्याय से भी समझाया जाता है। मोर के अण्डे के भीतर उसके पंखों के सारे रंग समाए हुए हैं। ऐसे ही शिव में यह जगत् समाया हुआ है। मयूर पंख के रंग अण्डे के भीतर अव्यक्त हों, पर वे स्वप्न या माया नहीं है, यथार्थ हैं। दर्पण भी सत्य है, उसका बिम्ब भी प्रतिबिम्ब भी। वेदांती माया या अनिर्वचनीयता वाद के लिए यहाँ स्थान नहीं है। माया है, पर वह शिव की लीला या क्रीड़ा है। अपनी लीला की रचना में वे स्वयं भी समाए हुए हैं। इस विश्वबोध को शैवदर्शन की परम्परा में इस प्रकार समझाया गया है—

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिका:। विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टा:। विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविद:। (*प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र 8* पर भाष्य, पृ. 62)

(तंत्रमत में आत्मतत्त्व विश्व से परे है, कुलाम्नाय की दृष्टि से वह विश्वमय है। त्रिक्दर्शन में वह विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है।)

तीसरी दृष्टि अभिनवगुप्त की है।

बिम्ब भी शिव हैं, प्रतिबिम्ब भी वे ही हैं और वे ही दर्पण भी हैं, अपने में प्रतिबिम्ब भी वे ही

---

[11] *प्रत्यभिज्ञाहृदय,* सूत्र-10 : 67.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 61

रचते हैं, उस प्रतिबिम्बों के विराट् संसार को वे ही समेटते भी हैं। चूँकि इस जगत् में शिव समाए हुए हैं अत: यह जगत् न भ्रम है, न स्वप्न न माया।

शैवदर्शन की सृष्टि-विमर्श की केंद्रीय तत्त्व स्वातंत्र्य का सिद्धांत है। अभिनवगुप्त कवि या कलाकार स्वातंत्र्य के संदर्भ में इसकी पुनर्व्याख्या करते हैं। शक्ति अपने को अनंत रूपों में व्यक्त करती है, या शिव उसके माध्यम से अनंत रूपों में व्यक्त होते रहते हैं। शक्ति के मुख्यतया ये पाँच रूप हैं चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान, क्रिया। चित् शिवरूप ही है, जो आत्मप्रकाशन की शक्ति के साथ अवस्थित है। आनंद का दूसरा नाम स्वातंत्र्य भी है। *तंत्रालोकसार* में अभिनवगुप्त कहते हैं स्वातंत्र्यमानन्दशक्ति:।

यह सृष्टि शिव का खेल है, इस खेल के वे पण्डित हैं, स्वयं के साथ स्वच्छंदता से वे यह खेल रचते हैं।

किंतु दुर्घटकारित्वात् स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डित: परमेश्वर:।। (*तंत्रालोक,* 4.10, भाग 3 : 626)

वेदांत में ब्रह्म सृष्टि से निरपेक्ष है। माया उसकी उपाधि है, इस से उपहित हो जाने के कारण जगत् उसमें आभासित होता है, जैसे सीपी में चाँदी या रस्सी में साँप। ब्रह्म को इस सृष्टि से कुछ लेना देना नहीं। पर रचनाकार अपनी रचना से निरपेक्ष कैसे रह सकता है? शैवदर्शन में तो शिव अपने आनंद या लीला के लिए अपने आप को ही सृष्टि के रूप में रचते हैं। इस रचने में उनकी शक्ति व स्वातंत्र्य है।

उत्पलदेव आदि दार्शनिकों ने जिस शक्तिरूप स्वातंत्र्य की बात परमशिव के संदर्भ में की थी, अभिनवगुप्त ने उसे कला के क्षेत्र में रचनाकार के स्वातंत्र्य पर विनियोजित किया। इस स्वातंत्र्य के सिद्धांत के कारण शैवदर्शन तथा विशेषरूप से अभिनवगुप्त का कलादर्शन समकालीन विश्व में एक नयी सार्थकता के साथ अपनाया जा सकता है। अभिनवगुप्त की ही परम्परा के एक आधुनिक आचार्य बलजिन्नाथ तो अपने *स्वातंत्र्यदर्पण* नामक ग्रंथ में स्वातंत्र्य के अनेक प्रकार बताते हुए व्यक्ति की स्वतंत्रता से लगा कर एक राष्ट्र की स्वतंत्रता के प्रत्यय को भी उसमें समाविष्ट कर लेते हैं। तांत्रिक आगमिक स्वातंत्र्य एक स्तर पर रूढ़िभंजन करने वाली अतिगामिता से अनुषक्त हैं, दूसरे स्तर पर शक्ति के उच्छलन से, तीसरे स्तर पर रचना-प्रक्रिया से। स्वातंत्र्य के सभी रूपों को मिला कर अभिनवगुप्त के दर्शन में यह समीकरण बनता है—

शक्ति = विमर्श = अहंप्रत्यविमर्श = प्रत्यभिज्ञा = अनुसंधान = परा वाक्= प्रतिभा

चित् और आनंद दोनों महेश्वररूप हैं। इच्छा सर्जन की प्रवृत्ति है। क्रिया इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करती है। ज्ञान इस सारी प्रक्रिया का साक्ष्य है। शिव में जगत् और जगत् में शिव हैं। शैव दार्शनिक उन्हें एक अलबेला कलाकार मानते हैं, जो बिना रंग, ब्रश और केनवस के संसार की विराट् चित्र रच देते हैं। क्षेमराज उत्पलदेव की स्तोत्रावली की व्याख्या में कहते हैं 'आनंदोच्छलिता शक्ति: सृजत्यात्मनामात्मना।' यहाँ स्वातंत्र्य का सिद्धांत आभासवाद भी कहलाता है।

शिवदृष्टि और कविसृष्टि

शिव की सृष्टि और कलाकार या कवि की सृष्टि दोनों में समतुल्यता की बात शैव दार्शनिकों ने अभिनवगुप्त के पहले ही उठा दी थी। सोमानंद *शिवसूत्र* में कहते हैं : नर्तक आत्मा। रङ्गोऽन्तरात्मा। प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। धीवशात् सत्त्वसिद्धि:। (शिवसूत्र 3.9-12)

अर्थात्, आत्मा नर्तक है, अंतरात्मा रंगमंच है, जिस पर वह नृत्य करता है। इंद्रियाँ इस नृत्यनाट्य की दर्शक हैं। जैसे अभिनेता सात्त्विक अभिनय करते हुए समाधि में पहुँचता है, वैसे आत्मा भी।)।

इन सूत्रों की व्याख्या में क्षेमराज कहते हैं कि जैसे नट अपने बुद्धिकौशल से सात्विक अभिनय की सिद्धिदशा में पहुँच जाता है, ऐसे ही आत्मा भी (जीवन के नाटक का साक्षी बन कर) स्फुरत्तारूपी आंतरिक परिस्पंद की दशा में पहुँच जाता है।

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 62

अपनी *शिवसूत्रविमर्शिनी* में क्षेमराज आगे कहते हैं कि शिव एक नट की तरह विविध भूमिकाओं में अपने स्पंद से अपने आप को अपनी ही भित्ति पर प्रकट करते हैं — नानाभूमिकाप्रपञ्चंस्वस्पन्दलीलया एव स्वभित्तौ प्रकटयति।

कविप्रतिभा को शिवरूप कहा गया, शिव जिस तरह प्रकाशविमर्शमय हो कर स्वातंत्र्य से संसार की सृष्टि करते हैं, वैसे ही कवि अपनी प्रतिभा के स्वातंत्र्य से काव्य की सृष्टि करता है। जिस तरह शिव शक्ति से संवलित हो कर विश्व रचते हैं, उसी तरह रचनाकार भी प्रतिभा की शक्ति से संवलित हो कर कविता का विश्व रचता है।

इस दृष्टि से शिव या महेश्वर और कविप्रतिभा के बीच भी समाकारिता हो जाती है। उत्पलदेव *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* में कहते हैं—

या चैषा प्रतिभा तत् तत् पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानंतचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।। (1.7.1)
(विविध पदार्थों में क्रम से अपने को व्यक्त करने वाली प्रतिभा ही
क्रमरहित अनंत चैतन्यरूप महेश्वर रूपी प्रमाता या अनुभवकर्ता है।)

शिवदृष्टिकार सोमानंद और उत्पलदेव जैसे शैव दार्शनिकों ने कला के विमर्श के लिए ऐसे महाद्वार खोल दिये, जो अन्य किसी भारतीय दर्शन ने नहीं खोले— कदाचित् संसार में अन्य किसी तत्त्वचिंतन या धर्मदर्शन ने कलाविमर्श को यह जगह नहीं दी होगी, जो शैव दर्शन ने दी। परमतत्त्व के अनुभव को समझाने के लिए कलानुभव को उपमान बनाया गया तथा कलानुभव को समझाने के लिए शिवानुभव को उपमान बनाया गया। यदि यह संसार शिवमय है, तो इस संसार के हर एक अनुभव को शिव का अनुभव बनाया जा सकता है। योगी भी भोजन, पान उसी तरह करता है जैसे सामान्य जन, पर सामान्य जन को उस में दैहिक तुष्टि मिलती है, परम आनंद नहीं। योगी संसार के विषयों में शिव की भावना करता हुआ उनमें भी परम आनंद के अनुभव के साथ रमता है। इतना ही नहीं योगी या साधक के लिए विषयों के उपभोग और उनके साथ नृत्य, गीत, काव्य आदि को उसके मुक्तिमार्ग में सहायक भी माना गया। *विज्ञानभैरव* में कहा है :

> 'जब किसी को तेज़ भूख लगती है और वह अन्न खाता है, या किसी को तेज़ प्यास लगती है और वह पानी पीता है, तो उल्लास, रस और आनंद की स्थिति निर्मित होती है। इस उल्लास, रस और आनंद की भावना करने पर योगी को परम आनंद का अनुभव होता है। इसी तरह संसार में अन्य विषय— शब्द, स्पर्श, रूप आदि का भी इंद्रियों से ग्रहण होने पर आस्वाद में डूबे योगी का मन तन्मय हो कर इन पर टिक जाता है। वह अपने स्वरूप से एकात्म हो कर महानंद को प्राप्त करता है। मधुर गीत आदि के श्रवण से चित्त में आनंद की तरंग उठती है। इसे आनंद शक्ति कहा गया है।'

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत्।
गीतादिविषयास्वादसमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता।।
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव वारयेत्।
तत्र तत्र परानंदस्वरूपं सम्प्रकाशते।।[12]

अभिनवगुप्त *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी* में *विज्ञानभैरव* के इस कथन को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि वास्तव में योगी संसार के नाटक को अपने भीतर देखता है और उसका साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार प्रमोदनिर्भर या आनंद से आप्लावित होता है। इसमे चमत्कार और रस की सम्पूर्णता होती है।

---

[12] *प्रत्यभिज्ञाहृदय भाष्य* में उद्धृत : 90.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 63

योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वरूपम् अंतर्मुखतया साक्षात्कुर्वंति, तत्प्रयोगरूढ्या विगलितविभागा चमत्काररससम्पूर्णतामापादयंति। (शिवसूत्रविमर्शिनी, का.सं.ग्र., पृ. 44)

संसार के विषयों के आस्वादन और काव्य के आस्वादन में अंतर यह है कि संसार के विषयों के आस्वादन में विषयों का व्यवधान होता है। चेतना और आस्वाद के बीच में सांसारिक विषय रहता है। काव्य के आस्वाद में यह विषयव्यवधान नहीं होता। पर संसार का संस्कार बना रहता है।

मधुरादिरसास्वादे तु विषयस्पर्शव्यवधानम् ततोऽपि काव्यनाट्यादौ तद्व्यवधानशून्यता तद्व्यवधान-संस्कारानुवेधस्तु। तत्रापि तु तथोदितव्यवधानांशतिर- स्क्रिया- सावधानहृदया लभन्त एवं परमानन्दम् यथोक्तम् -जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दव्यवस्थितेः। (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी,* पृ. 179)

यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी परम्परा में कविता और दर्शन, शास्त्र और अध्यात्म तथा स्तुति और चिंतन की धाराओं का संगम होता जाए। *स्तवचिंतामणिः*[13] नामक स्तोत्रसंग्रह के प्रणेता भट्टनारायण अभिनवगुप्त के परमगुरु उत्पलदेव के कुछ ही पहले लगभग आठवीं शताब्दी में हुए। उनके स्त्रोतों को दार्शनिकों की परम्परा ने अपने प्रमाणीकरण के लिए उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने उनके *स्तवचिंतामणिः* पर वृत्ति लिखी, जिसमें उन्होंने दर्शन और अध्यात्म की दृष्टि से इस स्तोत्र का मर्मोद्घाटन किया।[14] भट्टनारायण का अभिनवगुप्त ने सादर उल्लेख किया है। उत्पलदेव उनसे परिचित थे। भट्टनारायण शिव कहीं कवि कहते हैं, तो कहीं कलाकार। कवि और कलाकार दोनों रूपों का उनका वे जो निर्वचन करते हैं, वह शैवदर्शनसम्मत तो है ही, अभिनवगुप्त और उनकी परम्परा के काव्यशास्त्र के आचार्यों के लिए वह सहायक संदर्भ सामग्री बन जाता है। भट्टनारायण के इन श्लोकों को कलासर्जनप्रक्रिया के संदर्भ में आचार्य उद्धृत करते हैं। शिव को कवि बताते हुए भट्टनारायण कहते हैं—

विसृष्टानेकसद्बीजगर्भं त्रैलौक्यनाटकम्
प्रस्ताव्य हर संहर्तुं त्वत्तः कोऽन्यः कविः क्षमः।।

(त्रिलोकीरूपी इस नाटक को जिसके भीतर तुमने अनेक बीज बिखेर दिये हैं, तुम रच कर समेट भी लेते हो। हे हर! तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कौन कवि है, जो ऐसा कर सकेगा?)

शिव को अनोखा कलाकार बताने वाले भट्टनारायण के इस श्लोक को मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने भी उद्धृत किया है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।

(जो बिना किसी उपादान सामग्री के बिना भित्ति या केनवस के जगत् के चित्र को बना देते हैं, उन श्लाघ्य कला वाले शिव को नमन है।)

अभिनवगुप्त ने *नाट्यशास्त्र* के पहले अध्याय पर अपनी *अभिनवभारती* में अपने पूर्ववर्ती आचार्य भट्टनायक के इस पद्य को उद्धृत किया है—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः।।

(त्रैलोक्य रूपी नाट्य को रचने वाले कवि या नाट्यकार शंभु को नमन है, जिनके कारण लोग प्रतिक्षण जगद् रूपी नाटक के प्रयोग के रसिक बने रहते हैं।)

---

[13] सं. कृष्णानंद सागर, प्रत्यभिज्ञान प्रकाशन, बिर्दोपुर, वाराणसी, 1985.

[14] *स्तवतिंतामणि* के मूल पाठ के साथ क्षेमराज की टीका का सम्पादन मर्जानोविक ने किया जो 2011 में प्रकाशित है. नारायण भट्ट के स्तोत्र का सिल्बर्न द्वारा किया गया अनुवाद 1964 में प्रकाशित है. राफ़ेल तोरेला और बेटिना बॉमर (सं.) में डानियल कुनियो का लेख : 46.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 64

इस तरह शिव कवि भी है, चित्रकार भी और नट भी। यह संसार शिव का रचा काव्य, चित्र या नाटक हो जाता है, जिसमें शिव की उपस्थिति रससृष्टि करती रहती है। यही रससृष्टि कला में होती है। अत: कला न भ्रम है, न आरोप, न निश्चयात्मक ज्ञान या अध्यवसाय। वह रसस्वभाव वस्तु है। कला रस है और रस कला है। शिव की उपस्थिति इस रस में रसता लाती है। *तंत्रालोक* में अभिनवगुप्त ने कहा है—

तथा हृदयैकाग्रसकलसामाजिकजन: खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते।।
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोप्रदर्शने।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ।
संवित् सर्वात्मिका देहभेदाद् या सङ्कुचेत् तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसङ्घट्टप्रतिबिम्बाद् विकरस्वरा।।
उच्छलन्निजरश्म्यौघ: संवित्सु प्रतिबिम्बित:।
बहुदर्पणवद् दीप्त: सर्वांशेनाप्ययत्नत:।
अत: एवं नृत्तगीतप्रभृतौ बहु पर्षदि।
य: सर्वतन्मयीभावो ज़्लादो नत्वेककस्य स:।।
आनन्दनिर्भरासंवित् प्रत्यक्षं सा तथैकताम्
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानंदत्वमश्नुते।।
(*तंत्रालोक,* 10.80-85, भाग 5, पृ. 1948-50)

(नृत्य या नाट्य देखते हुए सामाजिक जन नृत्य या गीत के द्वारा सुधा के सागर में डुबकी लगाने जैसा अनुभव करता है। मल्ल, नट आदि के खेल देखते हुए सारे प्रमाताओं या अनुभवकर्ताओं का तादात्म्य हो जाने से वहाँ उत्पन्न आह्लाद किसी एक का नहीं होता, वह सबका हो जाता है। उसमें मनुष्य अपने पूर्ण रूप का अनुभव करता है। जो सर्वात्मिका संवित् या चेतना अलग अलग देहों में सीमित हो कर स्थित है, वह इस मेले की स्थिति में एक दूसरे से संघट्टित हो कर प्रतिबिम्बों के रूप में चमक उठती है। तब एक ही चेतना की रश्मियों का पुंज इन सब चेतनाओं में प्रतिबिम्बित होता है, अनेक दर्पणों में जैसे एक ही प्रतिबिम्ब भासित हो उस तरह अनायास वह सब में एक ही अंश झलकता है। नृत्य गीत आदि को देखते सुनते हुए भी रसिकों की परिषद् में सब को एक सा तन्मयीभाव होता है, तब जो आह्लाद होता है, वह किसी एक का नहीं होता।)

जगत् व कविसृष्टि दोनों को समझाने के लिए शैवदर्शन तथा तदाधारित सौंदर्यशास्त्र में दर्पण के रूपक का उपयोग किया गया। शिव और उनकी शक्ति दर्पण है, स्वात्म दर्पण स्वात्मप्रतिबिम्ब रूप जगत् को शिव रचते हैं। कवि की प्रतिभा दर्पण है, उसमें स्वात्मप्रतिबिम्बरूप कविसृष्टि को वह रचता है। दर्पण के रूपक को काव्य पर घटाते हुए भट्टेंदुराज ने उद्भट के *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति* की अपनी विवृति में कहा है—

रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
माधुर्यौजोयुतप्रौढे प्रतिविन्द्य प्रकाशते।
सम्पीतस्वच्छशब्दार्थद्राविताभ्यन्तरस्तत:।
श्रोता तत्साम्यत: पुष्टिं चतुर्वर्गे परां व्रजेत्।।

(अर्थात् रस से उल्लसित कवि का आत्म स्वच्छशब्दार्थदर्पण में प्रतिबिम्बित हो कर प्रकाशित होता है। यह चित्त को द्रवित कर के पुरुषार्थ की प्राप्ति की ओर ले जाता है।)

शैवशास्त्रों की आधारभूमि पर जो सौंदर्यशास्त्र निर्मित होता है, वह शक्ति का सौंदर्यशास्त्र है। अहंप्रत्यविमर्श या अपने होने का विमर्शात्मक बोध उसकी अनिवार्य शर्त है। वेदांत और वैष्णव भक्ति से जुड़ी दार्शनिक परम्पराएँ जहाँ अहं को निर्मूल करने पर बल देती हैं, शैव तंत्र व प्रत्यभिज्ञा के दर्शन इस अहं को साधना का मूल स्वीकार कर के आगे बढ़ते हैं। अहं ही यहाँ भैरव माना गया है।

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 65

शिव इस संसार में समाए हुए हैं। इसलिए उस संसार का हर एक विषय संविद्रूप या चेतना से संवलित है। इस संविद्रूपता के कारण संसार के विषय रचनाकार के भीतर प्रकाश, विमर्श और स्पंद का उल्लास रचते हैं। यह उल्लास वीर्यविक्षोभ भी कहा गया है, जो जैविक वीर्यविक्षोभ से भिन्न है। चमत्कार का अधिकावेश ही वीर्यविक्षोभ है। इस चमत्कार को भोगावेश भी कहा गया है। वीर्य, बल, ओजस्, प्राण तथा रमणीयता— ये समीकरण अभिनवगुप्त के दर्शन में बनते हैं।

उत्पलदेव ने भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन से वाणी के चार स्तर परा, पश्चंती, मध्यमा और वैखरी को सृष्टिविमर्श में समाहित किया। तदनुसार परा वाक् ही शक्ति है।[15] उत्पलदेव भर्तृहरि के शब्दब्रह्म को शैवदर्शन में शक्ति के प्रत्यय की कक्ष्या में स्थापित करते हुए इसके लिए एक भिन्न पद शब्दन का प्रयोग करते हैं। ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्ति के ये तीन रूप हैं, उत्पल इन्हीं को पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी के साम्य में देखते हैं, जब कि परा वाक्परमेश्वर का अहंप्रत्यविमर्श है।

अभिनवगुप्त ने उत्पल की समावेशी दृष्टि को और विस्तार दे कर काव्य रचना प्रक्रिया की व्याख्या में अपनाया। आनंदवर्धन के *ध्वन्यालोक* में चार उद्योत (अध्याय) हैं। *लोचन* में प्रत्येक उद्योत पर अपनी टीका का समापन अभिनवगुप्त जिन पद्यों से करते हैं, उनमें प्रथम उद्योत पर परा, द्वितीय पर पश्यंती, तृतीय पर मध्यमा और चतुर्थ पर वैखरी वाणी की वंदना की गयी है।

रचना करने के लिए ईश्वर के समान चित्त की निर्मलता, पावनता और चमक या प्रकाश चाहिए। पर ... रचना नहीं हो सकती, जब तक शक्ति या विमर्श उसके साथ न हो। यह स्त्री तत्त्व है । इसलिए वैराग्य से रचना नहीं हो सकती मुनि जन कविता या नाटक नहीं रच सकते। पर मुनि के पावन चित्त में स्त्रीत्व का संसर्ग हो, शक्ति का संवलन हो तो वह रचना कर सकता है।

अभिनवगुप्त स्वयं बताते हैं कि आनंदवर्धन के ग्रंथ का वास्तविक नाम *ध्वन्यालोक* नहीं *सहृदयालोक* है। पर ध्वन्यालोक नाम कैसे चल पड़ा? कदाचित् ध्वनि या नाद के समुन्मेष को काव्य रचना प्रक्रिया में अभिनवगुप्त ने जिस तरह इस ग्रंथ को माध्यम बना कर व्याख्यायित कर दिया, वह भी ग्रंथ का नाम ध्वन्यालोक हो जाने के पीछे कारण रहा है।

रचना करने के लिए ईश्वर के समान चित्त की निर्मलता, पावनता और चमक या प्रकाश चाहिए। पर चित्त की इस निर्मलता, पावनता और प्रकाश में से भी रचना नहीं हो सकती, जब तक शक्ति या विमर्श उसके साथ न हो। यह स्त्री तत्त्व है । इसलिए वैराग्य से रचना नहीं हो सकती मुनि जन कविता या नाटक नहीं रच सकते। पर मुनि के पावन चित्त में स्त्रीत्व का संसर्ग हो, शक्ति का संवलन हो तो वह रचना कर सकता है।

भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त ने अनुकृति के दो अर्थ बताए हैं— एक अत्यंत सीमित और लौकिक अर्थ है, जिसमें परचेष्टा का हास्योत्पादक हूबहू पुनः प्रस्तुतीकरण अनुकरण है। इस अर्थ में कला या कविता कभी भी अनुकृतिजन्य नहीं हो सकती। दूसरी ओर भरतमुनि अनुकृति के व्यापक अर्थ में, समस्त नाट्य या कलाव्यापार को ही अनुकृति कहते हैं। व्यापक अर्थ में अनुकृति अनुव्यवसायात्मक कवि–नट–सहृदयगत सर्जनात्मक व्यापार है।

---

[15] चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका,* 1.5.13

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 66

काव्यबोध तथा आस्वादप्रक्रिया

रसस्वरूप पर विचार करते हुए अभिनव ने अपने से पहले किये गये सारे रसविमर्श की थाह ली है। इनमें पहला मत लोल्लट का है, जिसे आरोपवाद या उत्पत्तिवाद कहा जाता है। लोल्लट ने माना कि स्थायी भाव कविता या नाटक में वर्णित मूल पात्र के भीतर ही उपजते हैं। स्थायी भाव जब किसी पात्र के मन में जन्म ले लेता है, तो उसके आकार में विकार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है। इनके साथ फिर संचारी भाव आते हैं, जो स्थायी भावों का परिपोष या उपचय करते हैं। यह सारी प्रक्रिया इतिहास या कथाओं में वर्णित राम, रावण आदि पात्रों में ही होती है। पर नट जब इन पात्रों से तद्रूप होने का अनुसंधान करता है, तो उसमें भी स्थायी भाव का प्रतीति दर्शक करने लगता है। उत्पत्ति, प्रतीति और उपचिति इन तीन दशाओं से गुज़र चुका स्थायी भाव नट में भी झलकने लगता है। नाटक का प्रेक्षक उसका नट पर आरोप करता है। यह आरोप भ्रममूलक होता है। इस तरह लोल्लट के मत में रसास्वाद ही भ्रमात्मक अनुभव सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त अपने मत को स्थापित करने के लिए तो लोल्लट के भ्रमवाद का निराकरण करते हैं, पर उनका अनुसंधानव्यापार कितना खरा है— यह वे भी समझते हैं। स्वयं अपने मत में उन्होंने अनुसंधान के तत्त्व को स्वीकार किया भी है।

लोल्लटप्रतिपादित अनुसंधान के तत्त्व को शंकुक ने अपनी दृष्टि से अनुकृति और अनुमिति— इन दो पक्षों के द्वारा प्रस्तुत किया। अनुकृति और अनुमिति ये दोनों सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ हैं, एक नट या अभिनेता के द्वारा तो दूसरी प्रेक्षक के द्वारा सम्पन्न होती है। अनुकृति के द्वारा अभिनेता कविता के संसार को मंच पर फिर से रचता है। वह इस संसार का सर्जक होता है। प्रेक्षक इस संसार का अनुभव अनुमिति के द्वारा करता है। शंकुक स्पष्ट कहते हैं कि अनुमिति या अनुमान की यह प्रक्रिया संसार में होने वाले अनुमान से भिन्न होती है। उनके यहाँ काव्यानुभूति या नाट्यानुभूति ही सारे सांसारिक अनुभव से विलक्षण है। नट में राम आदि पात्रों की प्रतीति चित्रतुरंगन्याय से होती है। चित्र में बने अश्व के बारे में न तो यह कह सकते हैं कि यह सचमुच का घोड़ा है, न यह कह सकते हैं कि यह घोड़ा नहीं है; न संशय कर सकते हैं कि यह घोड़ा है या और कुछ; न यह कह सकते हैं कि यह घोड़े से मिलता जुलता कोई प्राणी है; फिर भी उसमें घोड़े की प्रतीति हमें होती है। यही कलात्मक प्रतीति है जो सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य इन चारों प्रकार की सांसारिक प्रतीतियों से भिन्न है। अभिनवगुप्त यह जानते हैं कि शंकुक चित्रतुरंगन्याय के द्वारा सौंदर्यानुभूति की जो व्याख्या करते हैं, वह अपनी जगह पर सही है। उन्होंने शंकुक के अनुकृतिवाद का खण्डन किया, वह अनुकृति को सतही अर्थ में न लिया जाए, इस दृष्टि से किया, व्यापक अर्थ में कला को अनुकृतिरूप तो अभिनव स्वयं मानते हैं। इसी तरह अनुमिति का तत्त्व कलाबोध में भीतर पिरोया होता है यह प्रकारांतर से अभिनव स्वीकार करते हैं। रसनिष्पत्ति की स्वयं की व्याख्या में वे कहते हैं कि रसास्वाद वही सहृदय कर सकता है, जिसे संसार में रह कर विभिन्न स्थायी भावों के अनुमान में अभ्यास और पटुता प्राप्त कर ली हो। इस तरह व्यापक परिणितियों में अभिनव लोल्लट का उपचितिवाद भी स्वीकार कर लेते हैं और शंकुक का अनुमिति तथा अनुकृति का सिद्धांत भी। अत: वे कहते हैं कि भावों की अनुगामिता जो एकतानता में पर्यवसित होती है, उसकी दृष्टि से उपचय की स्थितियों में रसास्वाद को अनुकरण भी कहा जा सकता है। (वही, बडोदरा सं., 1992, भाग-1, पृ. 274)।

भट्टनायक ने रसानुभूति के निरूपण के लिए काव्य और नाट्य में दो अतिरिक्त व्यापार माने— भावकत्व और भोजकत्व या भोग। काव्य या नाटय में विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। भावकत्व में विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण का आशय है इनका किसी देशविशेष काल विशेष से संबंध टूट जाना। दुष्यंत या शकुंतला को ले कर यदि कोई नाटक खेला जा रहा है, तो उसे देखते हुए साधारणीकरण की प्रक्रिया से दर्शक के लिए दुष्यंत के पात्र का अभिनय करने वाले अभिनेता में से दुष्यंत का बोध या उसके दुष्यंत होने का बोध निकल

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 67

जाता है। यह तभी होता है, जब पहले दर्शक उस अभिनेता को दुष्यंत के रूप में देखता रहा है। साधारणीकरण के प्रभाव से यही दुष्यंत एक देशविशेष कालविशेष में हुआ व्यक्तिविशेष नहीं रह जाता, वह कोई नायक हो जाता है। तब उसका स्थायीभाव प्रेक्षक के चित्त में भावित होने लगता है। व्यक्तिविशेष का अनुभव एक सार्वजनीन अनुभव बन जाता है। इस अनुभव को प्रकाश और विमर्श से युक्त चेतना में देखना ही रस है।

अभिनवगुप्त ने लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक इन तीनों आचार्यों की स्थापनाओं का परिष्कार करते हुए उनके ग्राह्य तत्त्वों को अपने व्याख्यान में समाविष्ट किया। जो बात इनसे छूट गयी थी, उसे अभिनव ने विशद और विशेष बना कर कहा। वह थी समस्त प्रमाताओं के चित्त में स्थायी भाव का संस्कार रूप में सदैव विद्यमान रहना। तभी उनका अभिव्यक्तिवाद बन पाता है। स्थायीभाव वासना के रूप में हर व्यक्ति के भीतर रहते ही हैं। विभावादि कारण सामग्री के सामने आने पर वे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। अभिनव के अभिव्यक्तिवाद में इस उद्‌बोध की व्याख्या व्यंजना की प्रक्रिया के द्वारा की गयी। स्थायी भाव वासना या संस्कार के रूप में तो भीतर है ही, वह ढका हुआ है, या पर्दे में है। आवरण हटते ही उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। अभिव्यक्त हुआ स्थायी भाव रस बन जाता है।

स्थायी भावों को अभिनवगुप्त ने मूल संवित् कहा है। ये जन्मजात संस्कार के रूप में हर एक के साथ रहते हैं— जात मात्र एवं हि जंतुः इयद्भिः संविद्भिः परीतो भवति (वही, पृ. 276)। ये ही मूल संवित् हैं। इनमें हमारी पहचान है। इसमें प्रमाण यह है कि यदि कोई मनुष्य थका या उदास होता है तो प्रश्न किया जा सकता है कि आप क्यों थके या उदास है, पर यदि कोई उत्साह से सम्पन्न है, तो यह प्रश्न नहीं किया जाता कि आप उत्साह से युक्त क्यों हैं ?

स्थायी भाव तो व्यावहारिक जगत् में भी हम सब के भीतर अव्यक्त रूप से हैं ही। जब उनके कारण सामने आ जाते हैं, तो वे तो संस्कार रूप में चित्त में दबे हुए ये स्थायी भाव उद्‌भूत होते रहते हैं। इस तरह ये सहृदय अपने जीवन के विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न स्थायी भावों के अनुमान में अभ्यास और निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। फिर स्थायी भावों के जिन कारणों, कार्यों और सहकारियों का अनुभव वे संसार में अपने जीवन में विभिन्न प्रसंगों में कर चुके हैं, उन्हीं कारण, कार्य और सहकारियों को काव्य या नाटक में विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के रूप में देखते हैं। तब काव्य में उनका वर्णन पढ़ते हुए या सुनते हुए अथवा रंगमंच पर अभिनेता के द्वारा इनका प्रस्तुतीकरण देखते हुए सहृदय इनके साथ न तो किसी संबंध को स्वीकार कर पाते हैं, न अस्वीकार कर पाते हैं, वे न तो यह समझ सकते हैं कि ये विभाव आदि मेरे हैं, मेरे शत्रु के हैं या मेरे तटस्थ के हैं, और न वे यह ही कह सकते हैं कि ये न मेरे हैं, न मेरे शत्रु के न मुझ से तटस्थ के। सांसारिक संबंधों में काव्यजगत् या कलासंसार के संबंधों के न अँट पाने का अनुभव सहृदयसमाज को अंततः असीम के धरातल पर पहुँचा देता है। तब वासना के रूप में उनके भीतर स्थित स्थायी भाव व्यक्त हो जाते हैं। ये स्थायी भाव अलग अलग सहृदयों के चित्त में अलग-अलग ही व्यक्त होते हैं, पर यह असीम का अनुभव ऐसा होता है जो सबको एक में जोड़ देता है, यही साधारणीकरण है। इस साधारणीकरण में प्रत्येक प्रमाता या सहृदय का परिमितप्रमातृ-भाव (अपने व्यक्तिविशेष होने का बोध) गल जाता है, अपरिमित भाव हर एक के भीतर जाग जाता है, तब सारे सहृदय एक अनुभव में डूब जाते हैं। यह अनुभव ऐसा होता है कि इसमें अनुभव, अनुभव करने वाला और अनुभव का विषय तथा अनुभव का प्रक्रिया सब एकमेक हो जाते हैं। सब कुछ के निःशेष होने पर केवल रस ही शेष रहता है, सब उसी में विलीन हो जाता है। यही रसाद्वैत है। यह रस एक अनिर्वचीय अनुभव होता है, इसे न कार्य कहा जा सकता है, न ज्ञाप्य। कार्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि विभाव आदि के न रहने पर इसका अनुभव भी नहीं रहता, जब कि कारण कार्य के नाश होने पर बना रह सकता है। ज्ञाप्य इसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जो ज्ञाप्य वस्तु है, वह पहले से मौजूद होनी चाहिए, जब कि रस तो कलानुभूति में हर बार नये सिरे से जन्म

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 68

लेता है। वास्तव में यह रस विभाव आदि के द्वारा व्यंजित होने वाला चर्वणीय तत्त्व है। पर उसका आस्वाद उत्पन्न होता है और रस तथा रसास्वाद एक ही मान लिए गये हैं, अत: रस भी कार्य कहा जा सकता है, यह एक विशिष्ट अनुभव या प्रत्यय है, जो संसार के सारे अनुभवों से विलक्षण है, योगियों के अनुभवों से भी यह विलक्षण है— इस दृष्टि से इसे ज्ञाप्य भी माना जा सकता है। अभिनवगुप्त रस की अलौकिकता को सिद्ध करने के लिए परस्पर विरोधी विशेषण उसके लिए उसी तरह स्वीकार करते हैं जिस तरह वेदांत में ब्रह्म के लिए परस्पर विरोधी विशेषण प्रयुक्त होते हैं।

कुल मिला कर अभिनव के व्याख्यान में सूक्ष्मता और परिष्कार की सारी प्रक्रिया अंतत: सहृदय की चेतना पर विश्रांत होती है। नाट्य का स्वरूप ही उनके यहाँ अध्यवसाय (बुद्धि में किये हुए निश्चयात्मक विमर्श) या अनुव्यवसाय (किसी वस्तु के ज्ञान से होने वाला तात्त्विक बोध कि मैंने अमुक वस्तु को इस इस रूप में जाना) के रूप में प्रस्तुत किया गया। रस ही नाट्य है और नाट्य ही रस है। सारी कला चित्तवृत्तिस्वरूप है, क्योंकि अंतत: सहृदय की चेतना में जिस रूप में वह गृहीत होती है, वही उसका सच्चा स्वरूप है। मूर्ति का दृष्टांत देते हुए अभिनव कहते हैं कि सिंदूर आदि से पोते गये वासुदेव को देख कर वासुदेव की भावना होती है, इसमें सिंदूर से पुती मूर्ति सच्चा वासुदेव नहीं है, वह तो चित्त में वासुदेव की भावना जगाने का उपकरण मात्र है। चित्त में उदित भावना में सच्चा वासुदेव है। इस तरह कविता के शब्द रस नहीं, नाटक में देखे जा रहे विभाव आदि रस नहीं। उनकी भावना रस है। यह भावना साक्षात्काररूपिणी होती है। समस्त कलाबोध या सौन्दर्यानुभूति साक्षात्कारस्वरूप ही होती है। संसार में भी हम जिससे प्रेम करते हैं, उसका स्मृतियों में साक्षात्कार करते हैं। कलानुभव के समय मन के संस्कार हैं, वे विषयों के साक्षात्कार से उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। उनके उद्‌बोध में असीम समाया होता है, इस तरह सीमित और सुस्पष्ट ज्ञान नहीं होता, जिस तरह संसार में आँखों से देखते हुए हम किसी वस्तु का ज्ञान करते हैं। कालिदास के *अभिज्ञानशाकुंतल* में दुष्यंत एक गीत को सुन कर बेचैन हो जाता है। इस बेचैन हो जाने को कवि ने पर्युत्सुकीभाव कहा है। उसके मन में अबोधपूर्वक स्मृतियाँ घुमड़ती हैं। इन स्मृतियों में जन्म-जन्मांतरों के सौहार्द समाए होते हैं।

संसार में सुंदर वस्तुओं को देख कर मधुर शब्दों को सुन कर कोई भी प्राणी पर्युत्सुक हो उठता है। यह पर्युत्सुकीभाव चित्त में उलटफेर कर देता है, मन में सोए पड़े अस्पष्ट संस्कारों, स्मृतियों को उधेड़ देता है। इन्हीं संस्कारों और स्मृतियों में हमारे जन्म जन्मांतर के नेह के ताने बाने उलझे होते हैं।

कालिदास के श्लोक के माध्यम से कलानुभूति की व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं कि यहाँ कवि ने जिस स्मृति की बात की है, वह तर्कशास्त्र में प्रसिद्ध स्मृति नहीं है— अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है ऐसी साक्षात्काररूपिणी अनुभूति है।

यह साक्षात्कार चित्तवृत्ति में होता है, अत: सारे रस चित्तवृत्तिरूप हैं। भरतमुनि ने शृंगार रस को उज्ज्वलवेषात्मक (चमकीले वेष वाला) तथा उत्तमयुवप्रकृति (जो स्वभावत: अच्छे युवक-युवतियों में रहता हो) कहा है। अभिनव ने इन विशेषणों का चित्तवृत्तिपरक आशय खोलते हुए कहा है— 'वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनतया सङ्क्रमयतीति वेषो विभावानुभावात्मा, वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिण: ।' अर्थात् चित्तवृत्ति को व्याप्त करने के कारण वेष को वेष कहा जाता है, विभाव और अनुभाव वेष होते हैं। स्थायी भाव को वेष्टित करने के कारण व्यभिचारी भी वेष कहा जाता है। यहाँ उत्तमयुव शब्द के प्रयोग से युवा के भीतर रहने वाली चेतना से आशय लिया जाना चाहिए, काया से नहीं। परमार्थतया चैतन्य ही युवा या वृद्ध होता है।

कलानुभव भी कलासर्जना की तरह प्रकाशविमर्शात्मक होता है। प्रकाश में प्रत्यभिज्ञा या अनुसंधान की प्रक्रिया घटित होती है, विमर्श अहंप्रत्यविमर्श या अपने होने का बोध या संविद्विश्रान्ति। इस संविद्विश्रान्ति में अनुभव करने वाला प्रमाता आत्मरूपमति हो जाता है, अपने आप में प्रतिष्ठित होता है, और अपनी आत्मा के द्वार से वह संसार को देखता है (आत्मरूपमति: स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 69

पश्यन्— *नाट्यशास्त्र* 1।107 पर *अभिनवभारती*, भा. 1 : 36)। जो संसार कला के अनुभव के समय सहृदय देखता है, वह सुखदु:खात्मक भावों से सम्मिश्रित एक जटिल संसार होता है। रसिक या सहृदय के सामने भी यही भावजगत् होता है। इस भाव जगत् में तमाम सांसारिक अनुभव गड्डमगड्ड रहते हैं। इसी में स्थायी भाव भी होते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि स्थायी भाव दो प्रकार के होते हैं— सुखात्मक और दु:खात्मक। रति, हास, उत्साह, विस्मय— ये स्थायी भाव तो सुखस्वरूप होते हैं और क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा— ये स्थायी भाव दु:खात्मक होते हैं। यह सुखात्मकता या दु:खात्मकता भी इन भावों में सुख या दु:ख की प्रधानता के आधार पर ही मानी जानी चाहिए। ऐसा नहीं है कि रति, हास्य, उत्साह और विस्मय के साथ दु:ख जुड़ा न हो और ऐसा भी नहीं है कि क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा के साथ सुख संवलित न होता हो। शृंगार रस के स्थायी भाव रति का उदाहरण लें। इसमें चिरकाल व्यापी सुख की जुड़ाव होता है, यह सत्य है। पर रति के अनुभव में मनुष्य विषय के प्रति उन्मुख रहता है, विषय की कामना करता है, इस कामना में उपायभीरुता और उपाय विकलता आ जुड़ती है। प्रिया से मिलन की चिन्ताएँ शामिल हो जाती हैं। अत: चाहे सम्भोग शृंगार हो या विप्रलम्भ (वियोग) रति में दु:ख का संवलन या सम्भेद तो रहता ही है। हास में भी सुख के साथ दु:ख दोनों अनुगत रहते हैं। क्रोध, जुगुप्सा जैसे स्थायी भावों में दु:ख का जुड़ाव चिरकालिक होता है, पर विषय के आत्यंतिक नाश की भावना और आकांक्षा इनमें भी प्राण का संचार करती है, इसके कारण सुख का उच्छ्वास इनमें बना रहता है। यहाँ तक कि करुण रस के स्थायी भाव शोक को भी अभिनवगुप्त सर्वथा दु:खरूप नहीं मानते। इस शोक में भी पहले के सुख की स्मृतियाँ बिंधी रहती हैं, उनके कारण सुख इस सारे शोक के बीच कौंधता है। सुखदु:खसम्मिश्र विपुल विश्व का इसमें प्रमाता या सहृदय साक्षात्कार करता है। इस साक्षात्कार में जिस संसार का ज्ञान या बोध उसे होता है, वह ज्ञात संसार है, पर अनुसंधानपूर्वक वह इस संसार का प्रत्यभिज्ञान करता है। प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय से यह संसार अपूर्व बन जाता है।

प्रत्यभिज्ञा की शैवदर्शन में प्रतिपादित प्रक्रिया में वह ऐसी पहचान है, जिसमें अपने ही खोये हुए आत्म को अचानक सामने देख कर हम उसकी पहचान से चमत्कृत होते हैं। इस पहचान में प्रतिबिम्ब का मूल बिम्ब कौंध जाता है। इसमें अनुसंधान भी समाहित होता है। अनुसंधान में लगा हुआ अनु उपसर्ग इस बात का द्योतक है कि रचनाकार और भावक दोनों जिसका अनुसंधान कर रहे हैं वह पूर्वज्ञात है। वे कला के अनुभव से गुज़रते हुए इस पूर्वज्ञात तत्त्व का भी विशेष परिज्ञान करते हैं। आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त दोनों ने रचनाकार के संदर्भ में इस विशेष परिज्ञान को प्रत्यभिज्ञान (पहचानना) भी कहा है। *ध्वन्यालोक* (1.8) पर टिप्पणी करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं— तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनसंधानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानम्। न तु तदेवदमित्येतावंमात्रम्। (*लोचन,* पृ. 97) अर्थात् ज्ञात वस्तु का भी रचना की प्रक्रिया में निरूपण अनुसंधानात्मक होता है। यही प्रत्यभिज्ञान है। अत: काव्यानुभव का स्वरूप भी काव्यसर्जना की प्रक्रिया की भाँति अनुसंधानात्मक होता है।

भट्टनायक भावना या भावकत्व को काव्य या नाट्य का एक स्वतंत्र व्यापार मानते हैं, जिसका स्वरूप ही अनुसंधानमय है। अभिनवगुप्त भावना या साधारणीकरण को काव्य का पृथक्व्यापार नहीं मानते, उसे सहृदय के अंत:करण में चलने वाली प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। अनुसंधान तथा अध्यवसाय दोनों की प्रकृति एक ही है, अध्यवसाय हो जाने पर अनुसंधान की प्रक्रिया विरत हो जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भावना को एक प्रकार का ज्ञान माना है, जिसका स्वरूप पुन: पुन: अनुसंधानात्मक है— कारणं च तदवच्छिन्नं भावनाविशेष: पुन:पुनरनुसन्धानात्मा। (*रसगङ्गाधर,* प्र.आ., पृ. 11)

उत्पलदेव ने रहस्यानुभूति के संदर्भ में चमत्कार शब्द का प्रयोग किया था,[16] तथा उसे शैव दर्शन के क्रिया और इच्छा के प्रत्ययों से संबंधित करके विवेचित किया था। उसकी अभिनवगुप्त ने काव्यबोध

---

[16] *शिवस्तोत्रावलि,* 13.14-15.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 70

में होने वाले विमर्श के रूप में व्याख्या की। सहृदय अपनी चेतना के भीतर काव्यार्थ को विभावित करता है, यह विभावन विमर्श की ऐसी स्थिति में परिणत हो जाता है, जिसमें मनुष्य अपनी चेतना के सबसे उज्ज्वल रूप में अनिर्बाध रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। चेतना से सबसे उज्ज्वल रूप में अनिर्बाध टिके मनुष्य को ही अभिनवगुप्त भोक्ता या सहृदय कहते हैं, और टिकाव की इस स्थिति को भोग अथवा चमत्कार। चेतना इस स्थिति में अपने आप का अपूर्व साक्षात्कार करते हुए एक अद्‌भूत स्पंदन से गुजरती है।[17] वह उस परा वाक् को फिर से पा लेती है, जिससे जगत् रचा गया, जो शिवस्वरूपा है। वही प्रतिभा भी है। रुय्यक के *अलंकारसर्वस्व* की अपनी टीका विमर्शिनी में जयरथ ने कलानुभूति के अभिनवगुप्तसम्मत उस धरातल को स्पष्ट कर दिया है, जिस पर कश्मीर शैवदर्शन और भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन का समागम हो जाता है। तदनुसार काव्यार्थबोध से होने वाला चमत्कार विमर्श स्वरूप होता है, वही सारे जगत् का सार है और वही परावाक् है।[18] इस स्थिति में पहुँचना यह सीमित का असीम हो जाना है।

साधारणीकरण की बात भट्टनायक भी कर चुके थे। पर अभिनवगुप्त ने उसे अनंत और असीम के अनुभव की दृष्टि से नयी व्याख्या दी। भट्टनायक की सीमा को पहचान कर साधारणीकरण की अवधारणा को विस्तृत फ़लक पर विन्यस्त करते हुए वे कहते हैं— न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम् (*नाट्यशास्त्र* 6/31 के बाद के गद्यभाग पर *अभिनवभारती* , भाग–1, पृ. 279)। साधारणीकरण परिमित या सीमित नहीं होता। अभिनवगुप्त में साधारणीकरण के दो पक्ष हो जाते हैं— एक तो काव्य या कला में निरूपित विषयों (विभाव आदि) का देशविशेष कालविशेष से संबंध टूट कर उनका आनंत्य और दूसरा भावक या प्रेक्षक के द्वारा अपनी चेतना में इस आनंत्य का अनुभव। इसको समझाते हुए अभिनव ने कहा— नाटक देखते या काव्य को पढ़ते, सुनते समय उसमें चित्रित विभाव आदि से भावक कोई विशेष संबंध न तो जोड़ पाता है, न तोड़ पाता है। वह संबंध विशेष के स्वीकार और अस्वीकार के अनिश्चय की स्थिति में रहता है। इस अनिश्चय की स्थिति में वे विभाव आदि साधारणीकृत रूप में उसे भासित होने लगते हैं। इस साधारणीकृत रूप में उनकी प्रतीति होने पर भावक के भीतर संस्कार रूप में विद्यमान स्थायी भाव व्यक्त हो जाते हैं। यह अपरिमित साधारणीकरण है। अपरिमित साधारणीकरण की जो व्याख्या अभिनवगुप्त ने की, वह कला के मर्म को उघाड़ कर रख देती है। भट्टनायक से उनका विरोध केवल इस मंतव्य पर था कि भावकत्व (साधारणीकरण) और भोजकत्व या भोग काव्य कला अथवा नाट्य के व्यापार माने जाएँ।

इस प्रकार साधारणीकरण सीमित को तोड़ असीम के धरातल पर आरोहण है। यह असीम तो सीमित के भीतर सदैव रहता ही है। चेतना का परदा इसे ढाँपे रहता है। इस अनुभव में प्रमाता का परिमित या सीमित प्रमातृत्व टूट जाता है। वह एक अपरिमित भाव में प्रतिष्ठित होता है। व्यक्तित्व अनंत हो जाता है। इस असीम होने में उसके अपने चैतन्य का लोप नहीं होता, विस्तार होता है।

यह असीम तो सीमित के भीतर सदैव रहता ही है। चेतना का परदा इसे ढाँपे रहता है। विभाव

---

[17] सा चाविघ्नासंवित् चमत्कारः। भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनःकरणं चमत्कार इति स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरत्य(न्न) स्तु। *अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र* भाग 1 : 278.

[18] इयं विमर्शरूपैव परमार्थचमत्कृतिः।
सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते।।
नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता।
अनादिनिधना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी।।
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।
वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा।
द्योतिकार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्ऽ।। *अलंकारसर्वस्व सूत्र* एक पर जयरथ द्वारा विमर्शिनी टीका में उद्‌धृत.

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 71

आदि इस परदे या विघ्न को हटाने का काम करते हैं। (तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतय:)। ये विघ्न निम्नलिखित हैं— प्रतिपत्ति में अयोग्यता, सम्भावनाविरह, स्वगत या परगतरूप में भावना करने के कारण देशकालविशेष से आविष्ट हो जाना, अपने स्वयं के सुख या दु:ख से विवश हो कर रह जाना, प्रतीति के उपाय की विकलता, स्फुटता का अभाव, अप्रधानता तथा संशययोग।

१. सम्भावनाविरह— सम्भावना के आशय सम्यक् भावना से है। यह शक्ति है। भावना रचनाकार और सहृदय दोनों में होनी चाहिए। उसके बिना कलानुभूति की सामग्री का प्रत्यय नहीं हो सकेगा। रचना में प्रामाणिकता व विश्वसनीयता भी होनी चाहिए। कविता पढ़ते हुए या नाटक देखते हुए पाठक या प्रेक्षक यह न पूछता रह जाए कि क्या यह सम्भव है? कोई साधारण व्यक्ति सागर लाँघ गया, ऐसा वर्णन कवि करने लगेगा, तो सहृदय इसे विश्वसनीय नहीं मानेगा, व आस्वाद से विरत रहेगा। पर हनुमान् के सागर लाँघने का वर्णन विश्वसनीय हो सकता है।

२. देशकालविशेषावेश— काव्य का पाठक या नाटक का दर्शक अपने ही दिक्काल में बँधा रह जाता है, अथवा कविता या नाटक के संसार के अलावा किसी और संसार में रमता रह जाता है। दोनों ही स्थितियों में कलानुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि अभिनव के अनुसार उभयदेशकालत्याग रसास्वाद की शर्त है।

३. निजसुखादिविवशीभाव— रसिक अपने निजी सुख-दु:ख में डूबा रहता है, वह कविता या नाटक के भावलोक से जुड़ नहीं सकता।

४. प्रतीत्युपायवैकल्य— रसप्रतीति के उपायों में कमी रह जाना। कमी कवि या नाटककार की ओर से हो सकती है, अभिनेता या रंगकर्मियों की हो सकती है। दोनों को रसानुभूति की सामग्री विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि रसिक या दर्शक के सामने प्रस्तुत करना होती है, उसमें खटकने वाली कमी रह गयी, तब भी वह रसास्वादविमुख हो जाएगा।

५. स्फुटत्वाभाव— रसानुभूति की सामग्री— विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि स्फुट या स्पष्ट न हों।

६. अप्रधानता— विभाव आदि में जिनकी प्रधानता होनी चाहिए, उनकी प्रधानता न हो।

७. संशययोग— रसानुभूति की सामग्री पर रसिक को संशय होता रह जाए।

अभिनवगुप्त यह भी बताते हैं कि कलास्वाद में ये विघ्न न आयें, इसके लिए कवि और रसिक दोनों को क्या करना चाहिए। कवि को तो सही अभिव्यक्ति के मार्ग की बाधाएँ हटानी पड़ती हैं, और सहृदय को भी अपने आप को खोलना होगा।

अभिनवगुप्त के कलादर्शन का मर्म यही है कि ये सातों विघ्न न रहें, या दूर हो जाएँ, तो चित्त पर पड़ा आवरण हट जाता है, तब साधारणीकरणी की प्रक्रिया घटने लगती है। प्रमाता (रसिक, अनुभवकर्ता) एक निस्सीम संसार से एकाकार होने लगता है।

ये स्थायी भाव नौ हैं— रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम या निर्वेद। इन नौ को ही स्थायी क्यों कहा गया? शेष को व्यभिचारी क्यों कहा गया? इसका उत्तर अभिनवगुप्त संस्कार की अवधारणा खड़ी कर के देते हैं। जन्म लेते ही मनुष्य के भीतर कतिपय मनोभाव स्थायी रूप से बद्ध मूल होते हैं, उनकी जड़ें इसकी चित्तभूमि में इतनी गहरी होती हैं कि वे सहज में उखड़ नहीं सकते। जन्म लेते ही शिशु के भीतर जो रति (प्रेम) है, वह माँ के लिए उसकी ललक में व्यक्त होती है। यही बात अन्य स्थायी भावों के बारे में है। यह बात अलग है कि किसी में ये स्थायी भाव उदग्र हो सकते हैं, किसी में बहुत दबे हुए हो सकते हैं। पर इनकी चित्तवासना से शून्य कोई प्राणी होता ही नहीं है। प्रेम करना, प्रसन्न होना, उत्साहित होना, भयंकर से भयभीत होना इत्यादि मनुष्य होने की सहज स्थितियाँ हैं। किसी से यह नहीं पूछा जाता कि आप प्रेम क्यों कर रहे हैं या आप

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 72

में उत्साह क्यों है ?[19] पर कोई उदास दिखे, तो उससे पूछा जा सकता है, आप उदास क्यों हैं। इसलिए रति, उत्साह आदि स्थायी भाव है, चिंता, ग्लानि आदि संचारी भाव।

आमतौर पर माना गया कि ब्रह्मास्वाद व रसास्वाद में यही अंतर है कि विभावादि सामग्री सामने से हटने पर रसास्वाद तो समाप्त हो जाता है। अभिनवगुप्त आस्वाद की पुरुषार्थनिष्ठता बताते हुए उसके सातत्य पर विचार करते हैं, रस चुकता नहीं, क्यों कि वह हमारे भीतर था, और बना भी रहा।

भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनों की दृष्टि में यह रस पुरुषार्थ से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। रस है तो पुरुषार्थ की सिद्धि अवश्य होगी। अभिनव बार बार रस को पुमर्थोपाय (पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय) कहते हैं। इस तरह प्रत्येक कला अनिवार्यत: पुरुषार्थ की उपलब्धि का द्वार भी खोलती है। पुरुषार्थनिष्ठता के कारण ही चार स्थायीभाव व उनसे जनित चार रस प्रधान हैं। रति काम पुरुषार्थ को प्रतिष्ठित करती है, और काम पुरुषार्थ से अनुषक्त धर्म और अर्थ का भी प्रत्यय कराती है। क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। उत्साह अर्थ और काम से संवलित हो कर भी धर्मप्रधान होता है। तत्त्वज्ञानजनित निर्वेद मोक्ष का उपाय बनता है। भरतमुनि ने शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स इन चार रसों को प्रधान रस तथा शेष चार हास्य, अद्‌भुत, करुण और भयानक – को इनसे जनित अवांतर रस कहा था।[20]

शांतरसविचार

रसों की पारस्परिकता और सारे रसों की शांत में परिणति इसी आधार पर अभिनवगुप्त प्रदर्शित कर सके। वीभत्स शांत रस का माध्यम बनता है। वीभत्स रस उन्होंने दो प्रकार का बताया— क्षोभज और उद्वेगी। क्षोभज को अभिनव ने शुद्ध भी कहा। यह शुद्ध या क्षोभज वीभत्स रस संसार की विकृतियों पर पहले क्षोभ और फिर उनसे वितृष्णा या वैराग्य उत्पन्न करता है, और अंतत: मोक्ष का पथ प्रशस्त करता है। (संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधन हेतुत्वाच्छुद्ध:।) इसी तरह हास्यरस

---

[19] स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जंतुरियतीभि: संविद्भि: परीतो भवति। तथा हि— 'दु:खसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादर:।' इति न्यासेन सर्वो रिरंसया व्याप्त: स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसंतप्तस्तद्धेतुषु कोपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरु: किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रांत: किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मय: किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य: प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्ति: काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। तद्विभाव (ग) कृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यहार:।
ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्मममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथा हि रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भर्वान्तविभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षयेक्षीयमाणा: संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहास्तु संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्काशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तर विषयस्योत्साहादेरखण्डनात्। यथा पतञ्जिल:— 'न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्त:।' (पातञ्जल.व्यास. भा. 24) इत्यादि.
तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिण: स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्रत्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमानां रक्तनीलादिसूत्र-स्यूतविरलभावो(गो)पलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिककाचभ्र(भ्रा) मकपद्मरागमरकतमहानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कावैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसंदर्भ विभ्रत: स्वयं च विचित्रार्थस्यायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्त रान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयंतोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्त: प्रतिभासंत इति व्यभिचारिण उच्यंते।
तथा हि— ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हुतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहु:। अत एव विभावास्तत्रोद्बोधका: सन्त: स्वरूपोपरज्ञकत्वं विदधाना रत्युत्साहदेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्या:। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्वनिरास: स्थायिनिरूपणायां स्त्रस्त्रस्थायिभावान् रसत्त्वम् (ना.शा. अ-ड़) इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृत:। (*नाट्यशास्त्र* अध्याय 6 पर *अभिनवभारती*).

[20] तत्र पुरुषार्थनिष्ठा: काश्चित्संविदा इति (एवं) प्रधानम् तद्यथा—रति: काम: तदनुषाङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठ:। कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साह: समस्तधर्मादिपर्यवसित:। तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां ल (व)क्ष्यते। अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम् *अभिनवभारती*, भाग 1, पृ. 282).

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 73

में प्रत्येक रस की विडम्बना प्रस्तुत की जाती है। जिस तरह वीभत्स में क्षोभ और उद्वेग होता है जो वैराग्य या निर्वेद की ओर ले जाता है, उसी प्रकार हास्य में भी दु:ख का बोध छिपा रहता है। इस दु:खांश के अनुवेध के कारण वीभत्स की ही तरह हास्य भी शांत में पर्यवसित होता है।

शांत रस की स्थापना करते हुए उन्होंने कहा कि रसों की सारी व्यवस्था पुरुषार्थों पर टिकी हुई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों तक पहुँचाने वाली चित्तवृत्तियों का उदय रस में होता है। जब शृंगार में काम पुरुषार्थ, रौद्र में अर्थ पुरुषार्थ तथा वीर में धर्म पुरुषार्थ का साधन बनने वाली चित्तवृत्ति होती है, तो मोक्ष पुरुषार्थ का साधन बनने वाली चित्तवृत्ति (तत्त्वज्ञान) भी होना चाहिए, जो शांत रस में परिणत हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि *नाट्यशास्त्र* में मूलत: आठ रसों की प्रतिपादन किया गया था, वासुकि के सम्प्रदाय का समावेश करते हुए बाद में शांत को नवम रस के रूप में स्वीकार किया गया। *नाट्यशास्त्र* के अनेक स्थलों पर रसों की संख्या और उनके नामों का परिगणन आठ तक किया गया है तथा नवम रस की चर्चा इनके अतिरिक्त विकल्प की तरह की गयी है।

शेल्डन पोलॉक ने भट्टनायक पर अपने महत्त्वपूर्ण विमर्श में स्थापित किया है कि सहृदय केंद्रित विमर्श का आरम्भ भट्टनायक कर चुके थे, और अभिनव ने उनके उधार पर अपना प्रस्थान निर्मित करते हुए भी उनके भावना व्यापार को इस आधार पर ख़ारिज किया कि वह जैमिनि के सिद्धांत का अनुवचन मात्र है।

अभिनवगुप्त इन पाठांतरों को प्रामाणिक मानते हैं तथा वे शांतरस के संबंध में *नाट्यशास्त्र* के दो प्राचीन सम्प्रदाय होने की बात कहते हैं। आठ रस मानने वाला सम्प्रदाय भी प्राचीन है, पर उनके अनुसार नव रस मानने वाला शांतरस के प्रति आग्रह रखने वाला सम्प्रदाय भी उतना ही प्राचीन तथा प्रामाणिक है। अभिनवगुप्त के विवेचन में शांतरस के प्रति आग्रह स्पष्ट है। शांत को रस के रूप में स्थापित करने वाले आचार्यों में उद्भट का नाम सर्वप्रथम उल्लेख्य है। आचार्य आनंदवर्धन ने भी शांतरस की स्वीकार्यता पर विचार किया है। उनका कहना है कि यदि सहृदयों के अनुभव से शांत की रसता स्थापित होती है, तो इसे रस के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। इससे भी यह सिद्ध होता है कि नवम शती में आनंदवर्धन के समय तक रसविचार में शांत की स्वीकार्यता पर प्रश्नचिह्न लगा हुआ था। आचार्य मम्मट तक शांत के विषय में विकल्प बना हुआ है।

पर अभिनवगुप्त सप्रमाण साबित करते हैं कि शांत रस की परम्परा प्राचीन है। मम्मट से पूर्ववर्ती रुद्रट ने शांत रस की स्वीकृति देते हुए सम्यग्ज्ञान या तत्त्वज्ञान को इसका स्थायी माना है। धनंजय का कहना है नाट्य में शांत रस नहीं हो सकता क्योंकि निर्वेद जैसे भाव से प्रेक्षक का तादात्म्य होगा नहीं, न ऐसे भाव का आस्वाद हो सकेगा। नाट्य में उसका पोष वैरस्य या नीरसता ही उत्पन्न करेगा।

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 74

अवलोककार धनिक ने इसकी वृत्ति में श्रीहर्ष के *नागानंद* नाटक में शांत रस की सम्भाव्यता तथा उसका खण्डन विस्तार से किया है। दूसरा विकल्प *ध्वन्यालोक* के प्राचीन टीकाकार चंद्रिकाकार का है, जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी टीका लोचन में किया है। *चंद्रिकाकार* का कहना है कि शांत सम्भव तो है, पर वह प्रबंध या काव्य-नाट्य आदि में प्रधान नहीं हो सकता, अंग भूत रस के रूप में ही वह रह सकता है। अभिनवगुप्त ने इस मत का भी खण्डन किया है।

भरत कहते हैं कि रति आदि स्थायीभाव वैकारिक भाव हैं किंतु शांत प्रकृति है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसी में लीन हो जाते हैं। शांतरस से अपने-अपने हेतुओं को प्राप्त करते हुए सभी भाव उद्भूत होते हैं तथा निमित्त के दूर हो जाने पर पुन: उसी में लीन हो जाते हैं।

सहृदय का स्वरूप

अभिनवगुप्त ने सहृदय को केंद्र में रखा, तथा सहृदय का लक्षण यह किया— 'येषां काव्यानुशीलनवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज: सहृदया:' (*ध्वन्यालोक* 1/1/ पर)— काव्य का अनुशीलन कर कर के जिनके मन का मुकुर (दर्पण) निर्मल हो गया हो, और यह निर्मल हो चुका यह मनोमुकुर काव्य की विषयवस्तु में तन्मय हो जाए— वे सहृदय कहे जा सकते हैं।

यहाँ मनोमुकुर या मन रूपी दर्पण की बात अभिनव ने कही है। शैवदर्शन के आभासवाद के सिद्धांत की झलक यहाँ भी देखी जा सकती है। जिस प्रकार स्रष्टा की चेतना के दर्पण में विश्व आभासित हो उठता है, उसी प्रकार सहृदय के चित्तरूपी दर्पण में भी काव्यविश्व प्रतिबिम्बित होता है। रस की अपनी अवधारणा तथा रसास्वाद का अधिकारी विमलप्रतिभानवशाली सहृदय होता है। इस सहृदय में वासना या संस्कार रहता है।

विमर्श और प्रकाश के उन्मीलन में सहृदय अनुभव के विविध स्तरों से गुज़र सकता है। एक स्थिति विमर्शात्मकता की हो सकता है, दूसरी प्रकाशात्मकता की। इसीलिए अभिनव के दर्शन में एक स्थिर या अपरिवर्त्य अवधारणा नहीं है, और सहृदय भी तरह-तरह के हो सकते हैं। *ध्वन्यालोक 1.9* पर टीका में अभिनव कहते हैं कि काव्यानुभूति की दृष्टि से तीन प्रकार के सहृदय हो सकते हैं। एक सामान्य सहृदय हैं, जो तत्काल काव्य के विषय से तन्मय नहीं हो पाते। वे कविता के सदर्भों को आँकते हैं, शब्दों को तौलते हैं और कविता के अनुभव में प्रवेश करते हैं। दूसरी कोटि के सहृदय तत्काल मर्म को पकड़ लेते हैं। इसके आगे भी एक कोटि पराकाष्ठा प्राप्त सहृदय की हो सकती है।

सहृदय प्रेक्षक यह संकल्प ले कर ही नाटक देखने या कलानुभव से जुड़ने के लिए जाता है कि इससे मुझे कुछ परमार्थ की प्राप्ति होगी। उसके भीतर यह बोध भी होता है कि परिषत् या नाटक देखने वाले समाज में सबको जो प्राप्त होगा , उसमें सर्वसमादरणीय लोकोत्तर तत्त्व के दर्शन और श्रवण का सहभागी मैं भी बनूँगा। तब गीत-वाद्य आदि के आस्वाद में वह सांसारिक भाव को भूल जाता है, उसका हृदय निर्मल दर्पण जैसा बन जाता है। फिर अभिनय देखते हुए वह प्रमोद, शोक आदि भावों में तन्मय हो जाता है। पाठ्य अंश (संवाद) को सुनते हुए राम, रावण आदि पात्रों का वह अध्यवसाय उसके चित्त में जाग जाता है, जो देश विशेष और कालविशेष के बोध से अनालिंगित हुआ करता है, तथा सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य और सम्भावना आदि ज्ञान की विविध प्रकार की कोटियों से भी अछूता होता है। इस अध्यवसाय से होने वाले संस्कारों की अनुवृत्ति उस सहृदय के चित्त में बनी रहती है, वह उन पात्रों के चरित्र में प्रवेश कर जाता है, अपनी आत्मा में उन्हें देखता है, और तब जो ऐसा करता है, वह ऐसा ऐसा भोगता है— इस बोध को प्रत्येक सामाजिक या सहृदय प्रेक्षक अपनी चेतना में समो लेता है और इससे रँग जाता है। अनोखे रसास्वाद या कलानुभव के माध्यम से यह बोध उसके चित्त में उतरता जाता है, खुदता जाता है, इस तरह अँकता जाता है कि फिर पुँछता नहीं और

05_radhaballav:Layout 1 7/25/2016 11:23 AM Page 75

इस के साथ ही शुभ को पाने की इच्छा और अशुभ को तज देने की इच्छा भी उसकी चेतना का अंग बन जाती है। अतएव अनिवार्यत: फिर सहृदय शुभ को हासिल करता है और अशुभ से छुटकारा पा लेता है। अभिनवगुप्त कलानुभूति की जो प्रक्रिया यहाँ सामने रख रहे हैं, उसमें रस या कला का अनुभव करना पुन: शिवरूप हो जाना है।

शेल्डन पोलॉक ने भट्टनायक पर अपने महत्त्वपूर्ण विमर्श में स्थापित किया है कि सहृदयकेंद्रित विमर्श का आरम्भ भट्टनायक कर चुके थे, और अभिनव ने उनके उधार पर अपना प्रस्थान निर्मित करते हुए भी उनके भावना व्यापार को इस आधार पर ख़ारिज किया कि वह जैमिनि के सिद्धांत का अनुवचन मात्र है। पोलॉक ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि भट्टनायक की भोगकृत्त्व या रसास्वाद की व्याख्या अपनी परिणति में शैवशास्त्र की ही शरण में जा पहुँचती है। दूसरी ओर राफ़ेल तोरेला तथा नवजीवन रस्तोगी के अध्ययनों में इस बात पर बल दिया गया कि अभिनवगुप्त के नाम से स्वीकृत कतिपय अवधारणाएँ उत्पलदेव द्वारा उनसे पहले ही प्रतिपादित की जा चुकी थीं। पर यह याद रखा जाना चाहिए कि भट्टनायक और उत्पलदेव के पुन:पाठ अभिनवगुप्त के कारण ही सम्भव हो सके, और ऐसे पुन:पाठों के लिए अभिनवगुप्त के साहित्य में और भी सम्भावनाएँ हैं।

संदर्भ

अभिनवगुप्त (1989), *अ ट्रिडेंट ऑफ़ विज़डम : ट्रांसलेशन ऑफ़ परात्रिशिकाविवरणा,* जयदेव सिंह (सं. और अनु.), स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयार्क प्रेस, अल्बेनी.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा— उत्पलदेव, अभिनवगुप्तकृत विमर्शिनीसहित, दो भाग, मधुसूदन कौल (सं.), कश्मीर संस्कृत सीरीज़, 22-33, मुबंई, 1918-21.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, अभिनवगुप्त, तीन भाग, मधुसूदन कौल (सं.), कश्मीर संस्कृत सीरीज़, 50, 62, 65, मुंबई, 1938-43.

कांति चंद्र पाण्डेय (1963), *अभिनवगुप्त : अ हिस्टोरिकल ऐंड फ़िलॉसफ़िकल स्टडी,* चौखम्भा, दूसरा संस्करण, वाराणसी.

जी.टी. देशपांडे (1989), *अभिनवगुप्त,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

तंत्रालोक— जयरथकृत व्याख्या सहित, आठ भाग, मधुसूदन कौल तथा मुकुंदरम शास्त्री (सं.), कश्मीर संस्कृत सीरीज, पुन:संपादन रामचंद्र द्विवेदी तथा नवजीवन रस्तोगी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987.

नाट्यशास्त्र, भरत, अभिनवगुप्तकृत अभिनवभारती सहित, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, चार भाग, प्रथम भाग, द्वि.सं. 1956, द्वितीय भाग, द्वितीय सं. 2001, तृतीय भाग, द्वितीय सं. 2003. चतुर्थ भाग, 2006.

परमार्थसार अभिनवगुप्त, योगराजाचार्यकृत भाष्यसहित, द्वारिकाप्रसाद शास्त्री (सं. व लघुटीका), रणवीर केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, प्रथम सं., 1981.

प्रत्यभिज्ञाहृदय क्षेमराजकृत, जयदेवसिंह (हिंदी अनुवाद व संपादन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973.

राफ़ेल तौरेला और बेटिना बॉमर (सं.) (2016), *उत्पलदेव— फ़िलॉसफ़र ऑफ़ रेकॅगनीशन,* आईआईएएस, शिमला और डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, नयी दिल्ली.

विज्ञानभैरव, ब्रजवल्लभ द्विवेदी (सं.) तथा हिंदी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2004.

शेल्डन पोलॉक (2010), 'व्हाट वाज़ भट्टनायक सेइंग? द हरमेनियुटिकल ट्रांसफॅर्मेशन ऑफ़ इण्डियन एस्थेटिक्स' शेल्डन पोलॉक (सं.), *एपिक ऐंड आर्ग्यूमेंट इन संस्कृत लिटरेरी हिस्ट्री : एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ रॉबर्ट पी. गोल्डमान,* मनोहर, नयी दिल्ली.